ISSN 2229-6328

भाग - अष्टात्रिंश, तृतीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



वैदिक याग एवं मीमांसा दर्शन

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः अष्टात्रिंश, तृतीय खण्ड (वि. सं. २०८०)

वैदिक याग एवं मीमांसा दर्शन

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जुलाई - सित. २०२३ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८
भाग: अष्टात्रिंश, तृतीय खण्ड
जुलाई-सित. २०२३

• प्राप्ति स्थान-
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक
रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :
प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक
स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक
प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

प्रो. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२४ गते
• **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२४ गते
• **युगाब्द** ५१२५
• **दयानन्दाब्द** १९९

सम्पादकीयम्

वेद भारतीय संस्कृति के आकर ग्रन्थ हैं। पावन अन्तःकरण वाले, मन्त्र द्रष्टा, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने प्राणिमात्र के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के निमित्त वेदज्ञानराशि का लोक में प्रचार-प्रसार किया। वेद के माध्यम से ही विश्व में सर्वविध ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार-प्रसार हुआ।

पुराकाल में वेद के पठन-पाठन सर्वत्र सर्वसुलभ था। तत्कालीन समाज में वेद ही मानवीय शिक्षा के केन्द्रबिन्दु थे। किन्तु कालान्तर में आलस्य, प्रमाद एवं अज्ञानता तथा विधर्मियों के षड्यन्त्र के कारण वेद का यह प्रकाश तिमिराविच्छिन्न होकर लुप्त होने लगा तथा जनसामान्य वेद के पठन-पाठन तथा तदनुरूप आचरण से दूर होने लगा। हजारों वर्षों की पराधीनता के कारण भारतीय जनमानस अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, भाषा, वेषभूषा एवं परम्पराओं के प्रति अत्यधिक उदासीन एवं अजागरूक हो गया। वेद का ऋषि कहता है- **जागृवांसः समिन्धते** (ऋग्० 1.22.21) अर्थात् जो जागरूक होता है, वही संसार में देदीप्यमान होता है, विजयी होता है। आक्रान्ताओं ने हमारी सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने का लिए सर्वविध प्रयास किया। यज्ञीय संस्कृति भी इससे अछूती नहीं रही।

भारतीय संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है। शास्त्रों में यज्ञ के आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक अनेक लाभ बताए गए हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सभी प्रकार के दिव्य सुखों का साधन कहा गया है- **नौर्हवा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्** (शत०ब्रा०)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त

(१०.९०) में प्रतिपादित है कि जगत्सृष्टा परमेश्वर ने यज्ञ के ही माध्यम से सृष्टि की रचना की। यह यज्ञ समस्त भुवन का आधार केन्द्र है-

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजु० ३२.६२

यज्ञ की इसी महत्ता एवं उपादेयता के कारण महर्षि मनु ने पञ्च महायज्ञों की अनिवार्यता प्रतिपादित की-

पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्॥ मनु० ४.२१

वेदादि शास्त्रों की अध्ययन परम्परा के लुप्त होने के कारण यज्ञ जैसे पवित्र एवं श्रेष्ठतम कर्म में भी अनेक दोष आ गए। यज्ञ के अध्वर स्वरूप का ध्यान न रखते हुए उसमें भी पशु बलि आदि प्रथा प्रचलित हो गईं। अध्वर शब्द ध्वर अर्थात् हिंसा का प्रतिषेध वाचक है। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि हिंसारहित तथा समस्त प्राणिसमूह के लिए कल्याणकारक यज्ञों में भी जिह्वा लोलुप एवं स्वार्थपरायण मनुष्यों ने हिंसा आदि क्रियाएँ प्रारम्भ कर दीं।

वेदों के उद्भट विद्वान् स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी महाराज ने यज्ञ शब्द का अत्यधिक सरल एवं व्यावहारिक लक्षण किया है- **समुदायाङ्गतया सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य क्रियमाणं कर्म यज्ञः।** अर्थात् सामूहिक रूप से सामुदायिक (समस्त प्राणियों) के कल्याण के उद्देश्य से किया जाने वाला कर्म यज्ञ कहलाता है। यज्ञ शब्द कितने उदात्त भावों को अपने अन्दर समाहित किए हुए है? कहाँ तो संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण एवं अभ्युदय का उद्देश्य यज्ञ में समाहित था और कहाँ अपनी जिह्वा के स्वाद को पूर्ण करने का साधन मनुष्यों ने यज्ञ को बना दिया और इसकी पूर्ति के लिए निरपराध प्राणियों का वध किया जाने लगा। परिणामतः यज्ञ में शुद्ध पवित्र क्रियाओं का स्थान हिंसा एवं पशुबलि आदि विकृत क्रियाओं ने ले लिया। अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए इन जिह्वालोलुपों ने अन्य शास्त्रों के साथ-साथ मीमांसा शास्त्र के यज्ञीय प्रसङ्गों की भी गलत व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

दर्शन साहित्य की परम्परा में मीमांसा दर्शन को अत्यधिक आदर प्राप्त हुआ है। किन्तु मीमांसा दर्शन के यथार्थ स्वरूप को न समझने से यज्ञ विषयक विभिन्न भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। अदृष्टवाद एवं विनियोगवाद के नाम पर भी नवीन मीमांसकों ने अर्थ का अनर्थ किया है। वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो? नामक लेख में पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इन दोनों ही वादों का विविध प्रमाणों से यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। मीमांसा प्रतिपादित अदृष्टवाद के सम्बन्ध में पूज्य स्वामी जी महाराज लिखते हैं-

यह अदृष्टवाद ही समस्त अन्धविश्वासों का प्राण है। भारत का सारा अध:पतन इसकी कृपा से हुआ। स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज का कहना है कि प्रतीक प्रत्यक्ष होता है तथा प्रत्यायनीय अदृष्ट होता है। यथा अग्नि प्रत्यक्ष है तथा श्रद्धा प्रत्यायनीय है अर्थात् अग्निहोत्र में जब अग्नि जलाकर उसमें घृत की आहुति करते हैं तो इस स्थूल क्रिया के पीछे श्रद्धा में सत्य की आहुति यह सूक्ष्म भावना छिपी है, यह अदृष्ट है। इसको जानकर तदनुरूप आचरण करने से मनुष्य को कल्याण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि अदृष्ट का सम्बन्ध प्रत्यायनीय से है। किन्तु मीमांसकों ने प्रतीक को अदृष्ट समझ लिया और अर्थ का अनर्थ कर दिया।

विनियोगवाद ने भी वेदार्थ परम्परा को महती हानि पहुँचाई। विनियोग का अर्थ है- **अन्यत्रोपात्तानां वाक्यानां यथास्थानमुपयोगः विनियोगः** अर्थात् जो वाक्य किसी एक ग्रन्थ के विशेष प्रकरण में पड़े हों, उनको प्रसङ्गानुसार किसी वैसे ही प्रकरण में इस ढंग से प्रयोग करना, जिससे वे उस प्रसङ्ग में फव जावें, यही विनियोग कहलाता है (पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती)।

मध्यकालीन वेद भाष्यकारों ने पशुयाग आदि में मन्त्रों का विनियोग न कर दुर्नियोग कर दिया। जिसके दुष्परिणाम स्वरूप जिन मन्त्रों से जीवित पशु के अङ्गों में प्राण सञ्चार करना था, उनसे पशु को मार कर आहुतियाँ दी

जाने लगीं। एतद्विषयक गूढ़ रहस्य **विनियोगरहस्यम्** एवं **वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो**? नामक लेखों में पूज्य स्वामी जी ने विस्तार से प्रतिपादित किए हैं।

यज्ञीय कर्मकाण्ड की दृष्टि से मीमांसा दर्शन अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक स्वरचित मीमांसा दर्शन के भाष्य की भूमिका में लिखते हैं- "वैदिक वाङ्मय तथा उपाङ्गभूत षट्दर्शनों में पूर्व मीमांसाशास्त्र का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शास्त्र में वेद, उसकी व्याख्या ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में जो याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध से हैं, उनका स्पष्टीकरण शङ्का निवारणपूर्वक किया गया है। इसके साथ ही उस याज्ञिक सम्प्रदाय में जो अन्यान्य रूढियाँ प्रचलित हो चुकी थीं, उनके न्याय्य स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार धर्मसूत्रों में जो वेदविरोधी अंश प्रविष्ट हो चुके थे, उनका प्रबल निराकरण किया है।"

मीमांसा दर्शन के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने के लिए स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा इस वर्ष १३ जनवरी २०२३ को वैदिक कर्मकाण्ड एवं मीमांसा दर्शन विषय पर राष्ट्रिय शोध सङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस अवसर पर भारत के विभिन्न प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय, महाविद्यालय एवं अन्य संस्थाओं के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों ने अपने वैदुष्यपूर्ण लेख प्रस्तुत किए। पावमानी के प्रस्तुत अङ्क के माध्यम से ये लेख आपके समक्ष प्रस्तुत हैं। इनसे यज्ञीय संस्कृति के दिव्य एवं भव्य स्वरूप को जानने में हम सभी सक्षम हों, यही परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है।

प्रो० सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

- **विनियोगरहस्यम्**
  - स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी — १-६

- **आधुनिक मनोविज्ञान के 'अभिप्रेरणा सिद्धान्त' की जनक है, मीमांसाशास्त्रोक्त भावना की अवधारणा**
  - प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय — ७-११

- **जैमिनीय श्रौतसूत्र में वर्णित अग्निष्टोम मीमांसा**
  - प्रो. रणजित् बेहेरा
  - डॉ. विजित कुमार — १२-२५

- **वैदिक यज्ञों की लोक परम्परा, प्रयोजन एवं प्रतिष्ठा**
  - प्रो. पंकज कुमार मिश्र — २६-३५

- **त्रिकाः**
  - प्रो. रामनारायण शास्त्री — ३६-५३

- **मीमांसा दर्शन का वाक्यशास्त्रीय स्वरूप**
  - प्रो. योगेन्द्र कुमार भानु — ५४-६५

▪ **वैदिकवाक्यों के अर्थनिर्धारण में मीमांसा दर्शन की भूमिका**
- डॉ. विनोद कुमार ६६-७४

▪ **यज्ञ का अधिकार एवं मीमांसा दर्शन**
- डॉ. जगमोहन ७५-८१

▪ **मीमांसा दर्शन में साधु-असाधु शब्दप्रयोग विमर्श**
- डॉ. सत्यकेतु ८२-९०

▪ **वैदिककर्मकाण्डानां मनोविश्लेषणात्मकम् अध्ययनम्**
- सुखेनघोषः ९१-९९

विनियोगरहस्यम्

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी

स्वामी पीत्वा प्रसुप्तो घनतिमिरमयी, यामिनी मेघमाला,
घोरैर्वज्रप्रहारैर्जनयति हृदये वेपथुं मानवानाम् ॥
भित्तिं स्वीयां खनति प्रतिपलमितरे ये क्वचिज्जागरूकाः,
त्वामेवाप्यावलम्बं श्लथयति न करं, स्वायुधैर्दुर्गपालः ॥

आर्याः। नास्तिकैर्विकासवादिभिः दुराग्रहग्रहिलैः कृश्चीनमतावलम्बिभिश्च प्रवर्तिते वेदविध्वंससमये महासमरेऽस्माकं शस्त्रबान्धवाः।

दृष्ट्वा वेदस्य विध्वंसं प्रवृत्तैरश्रुबिन्दुभिः।
भक्तानामर्चने जाता स्रग्धरा मे करद्वयी ॥

यत्किञ्चिदप्यद्य सभायामस्यामहं वक्तुकामस्तेन नूनं केषाञ्चित् कोपभाजनताङ्गच्छेयमिति नेदमसम्भाव्यम्। तथापि या भवतामस्माकं च शस्त्रबन्धुत्वस्य जननी सा वेदभक्तिरेवात्रापराध्यति। तदनेन स्नेहबन्धेन निगृहीतपाणयो न तत्रभवन्तो मय्याततधन्वानो भविष्यन्तीत्याशासे यदि च भवन्तः कुप्यन्त्येव तदार्धचन्द्रं मे दद्युः स चार्धचन्द्रः कृकाटे वा दीयते ललाटे वा, यदि कृकाटे दीयते तदास्मिन् भवसागरे निमज्जतो मे दत्तः करावलम्ब इति कलयिष्यामि, यदि ललाटे दीयते ततश्चन्द्रशेखरतां प्रपद्ये तदुभयथापि न व्यर्थोऽयं ममार्धचन्द्रपरिग्रहार्थसमपरम्भः। अस्तु

प्रकृतमनुसरामः।

बन्धवः! माध्यन्दिनदिवाकरवदवितथं जाज्वल्यमानमिदं यद् यावद् विनियोगदास्यपाशान्न वेदस्य मोक्षस्तावदस्माकमपि न दास्यान्मोक्षः। नैतावता मम विनियोगवाक्यविरोधित्वमनागप्याशङ्कि, अन्यत् किमपि तत्त्वं विनियोग इति अन्यदेव च विनियोगदास्यम्।

तत्रेदं विचार्यते ननु कोऽयं विनियोगो नाम **तत्रान्यत्रोपात्तानां शब्दानां वाक्यानां च यथास्थानमुपयोगो विनियोग इति** विनियोगलक्षणम्। यथास्थानत्वं च विनियोज्य वाक्यानामर्थेन संवादिनि स्थाने प्रयोगरूपम्। तेन च विनियोज्य वाक्यस्यार्थं परिज्ञाय विनियोक्त्रा स्थाने कृतोऽयं विनियोगोऽस्थाने वेति शक्यते निरुपयितुम्। अस्मिन् निर्णयप्रसङ्गे विनियोज्यवाक्यानामर्थनिर्णयो विनियोक्तव्यवाक्यानामर्थनिर्णयात् प्रागेव कर्तव्यः। तदन्तरं च विनियोगवाक्यं तमर्थमनुवर्तते नवेति निपुणमनुसन्धेयम् अद्यत्वे तु विपरीतमेव दृश्यते।

इदमेकमत्रोपन्यस्यते निदर्शनम्। यजुर्वेदस्य तृतीयाध्याये त्रिषष्टितमोऽयं। मन्त्रः-

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः।

निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥

ननु कीदृशीयं निवृत्तिः तत्तत्वम् एकषष्टितमे मन्त्रे स्वयमेवाविष्करोति भगवती श्रुतिः।

एतन्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।

अवतत धन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः अहिंसन्नः शिवोऽतीहि॥

तत्र कोऽयं रुद्र इति चिन्तायां लोककल्याणाय बद्धपरिकरः कोऽपि शूरभट इत्यार्यसामाजिकाः, भगवान् पिनाकपाणिरिति सनातन-

धर्म्मावलम्बिनः परं नैतदद्य विवादास्पदं यः कोऽप्यास्तां रुद्रः, स एव शिवेति नाम्नाप्युच्यते स एवैक षष्टितमेऽतीहीति प्रार्थितः मूजवतः परस्तादपि स्वशक्तिं प्रदर्शयन्तोऽस्माकं रिपवो येन क्षयं यान्त्वति भावः।

स योऽयं रुद्रो दुष्टानां रोदनाय प्रजापीडकानां च परिपीडनायाततधन्वाऽतीहीति प्रार्थितस्स एव कल्याणार्थिभिर्निवर्तस्वेति प्रार्थ्यते। अत एव भक्तिप्रवणेन मनसा स्नेहगद्गदया वाचा भक्तः प्राह हे रुद्र! त्वामहं स्वभक्तिबलेन निवर्तयामि येनास्माकमायुर्लाभोऽन्नाद्यलाभो रायस्पोषलाभः सुप्रजास्त्वलाभः सुवीर्यत्वलाभश्च भवतु।

उव्वटमहीधराभ्यामपि निवर्तयामीति पदस्य मुण्डयामीत्यर्थः कृतः। निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थ इत्यपि चोल्लिखितम् किं - **यद्गत्वा न निर्वर्तन्ते तद्धाम परमं मम** इत्यादिवाक्येषु यद्गत्वात्मानं न मुण्डयन्ति तद्धाम परमं ममेत्यर्थः क्रियते? क्रियते चेत्! किन्नोपहसनीयतां यास्यति?

अत्र केचिद् ब्रूयुः तत् किन्नास्ति केशवपनस्य निपूर्व्येण वृतिना सह कोऽपि सम्बन्धः, तान् प्रत्येवं ब्रूमः मैवम्। जागर्ति खलु कात्यायनसूत्रम्-

शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्तयामीति वपति। का.५/२/१७

इदं हि केशवपनं तेजस्वितायाः सूचकम्। अत एव य एते परिव्राजकाः आत्मन्यग्नीन् समारोप्य जङ्गमा इवाग्नयः परिव्रजन्ति वस्त्राण्यप्येषाम् ज्वालावर्णानि। एते च भगवन्तः समाहितचित्तवृत्तयः निवृत्तसर्वेन्द्रियक्रियाः, परमानन्दसन्दोहरसास्वादनैकपरायणाः, संसार चक्रमतिक्रामन्तो मूजवतोऽपि परस्तादतिक्रान्ताः अस्मादृशैरित्थं प्रार्थ्यन्ते आप्तकामाभवन्तोऽस्मदनुग्रहार्थम् अस्मासु आयुरन्नाद्य-रायस्पोष - सुप्रजास्त्व - सुवीर्यत्वाधानाय निवृत्तिमार्गान्निवर्तध्वम् एते चास्मासु सानुक्रोशाः निवर्तन्ते। परं येषां शृंगाररसस्य पताकेव शिरसि दोधूयते केशलता युवजनैः साऽस्मिन्नग्नौ भस्मतां गता तस्मादेते मुण्डितमुण्डा

निवर्तन्ते। तदस्या विषयासक्तिनिवृत्तेः सूचकं केशमुण्डनं प्रतीकमात्रमेव परं नैतावता निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थ इति शक्यते वक्तुम्। यद्वा गौण्या वृत्या प्रतीकप्रत्यायनीययोरभेदेन मुण्डनमर्थोऽप्यस्तु तथापि का नः क्षतिः। मन्त्रगतस्य तु निवर्तयामीति पदस्य मुण्डयामीत्यर्थो हठाकर्षिकामात्रमेव मन्त्रगतस्य निवर्तयामीति पदस्यातीहि प्रतियोगिनम् प्रत्यावर्तनरूपमर्थम्। परिज्ञाय तत् संवादिना विनियोगवाक्यार्थेन स्थातव्यम्। अत्र त विनियोगवाक्यानुरोधेन विनियोज्यवाक्यगते निवर्तयामीतिपदे निर्दयम् परिपीड्यमाने हा हन्त परित्रायध्वमिति सबाहूत्क्षेपमुच्चैराक्रन्दम् परिक्रोशति भगवती श्रुतिः। तन्नायं दोषो विनियोगवाक्यस्य, यैस्तु विनिवर्तयामीति पदं विनियोगवाक्यस्य दासतामानीतं त एवात्रोपालम्भनीयाः। अत एवोच्यते न वयं विनियोगान्मोक्षमन्विष्यामो विनियोगदास्यात्तु भगवतीं श्रुतिं मोचयितुमीहामहे।

योऽयं विनियोज्यविनियोगवाक्ययोर्गुणप्रधानभावो वैपरीत्यमानीतः कैश्चित् स एवाधिक्रियते दुर्विनियोगः।

इदमपरमेकमुपानीयत निदर्शनम्-

अवकीर्णिनो गर्दभेज्या इति कात्यायनसूत्रम्। तत्रायं प्रश्नः? केयं गर्दभेज्येति तत्रपूर्वं यज्ञे पशवः किमर्थमानीयन्त इत्येव तावद् विवेचनीयम्? एकोनचत्वारिंशत्तमेऽध्याये तत्र यजुर्वेदे-

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।

पशूनां रूपमन्नस्य रसः यशः श्रीः श्रयताम् मयि स्वाहा इति॥

चतुर्थे मन्त्रे पशूनां रूपमिति पदद्वयेन स्वहृदयं विवृणोति भगवती श्रुतिरेव तत्र किमिदं कीदृशं रूपमिति चेत् प्रकरणसंवादिरूपं ग्राह्यमित्येवोत्तरम्। शौर्यप्रसङ्गे सिंहकीर्त्तने शौर्यसिंहस्य गृह्यते न तु क्रौर्यम् तथैवात्रापि समुत्पन्नव्रतभङ्गस्य ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तेन संवादिगर्दभस्य

रूपं ग्राह्यम्, तच्चेत्थं गर्दभो हि पशूनां स्वल्पाहारतमो भूरिपरिश्रमश्च तथैव सञ्जातव्रतभङ्गेन ब्रह्मचारिणाऽऽहारमात्रा क्रमशो ह्रासमानेतव्या, स्वाध्याये श्रमश्चोपचेयः सेयमपचीयमानाऽऽहारमात्रा प्रत्यहमुपचयं च गच्छन्ती स्वाध्याये प्रवृत्तिस्तस्य ब्रह्मचर्यविघातकरान् भावान् मुहुरभ्यासेन समूलमुन्मूलयेदिति नास्त्यत्र सन्देहशोऽपि इदमेव प्रायश्चित्तसंवादिरूपम् गर्दभस्य इयमेव च गर्दभेज्या गर्दभसङ्गतिकरणेन लब्धव्या। इदमेव तत्त्वमनवगाहमानैर्गर्दभवधः प्रवर्तितो, ब्रह्मणे च गर्दभशिश्नं प्रदायोपहसनीयतामानीता भगवती श्रुतिः। ननु **शिश्नात् प्राशित्रा वदानमिति** सूत्रस्य कोऽर्थः स्यादिति चेत्तदपि न दुःशकं वक्तुम्। अक्षि विशेषज्ञा अक्षिदोषनिवारणेन जीवन्ति, उदररोगविशेषज्ञा उदरेण तथैव शिश्न-दुर्व्यवहारदोषनिवारणविशेषज्ञानां प्राशित्रावदानं जीविकाऽपि शिश्नेनैव भवतीति निर्मलसूत्रार्थः। तदित्थं पशूनां रूपमिति महता घण्टाघोषेण स्वाशयमाघोषन्त्यामपि भगवत्यां श्रुतौ यैः कर्णौ पिधाय तत्रावधानदानपराङ्मुखैः पशूनां मांसं पङ्केन पटप्रक्षालनवत् प्रायश्चित्त-विरोधियज्ञवेदावानीतं त एवात्रापराध्यन्ति न श्रुतिर्नापि विनियोगः। त एव च महाभारते शान्तिपर्व्वणि चतुःषष्ट्युत्तरद्विशततमेऽध्याये-

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैनरैः।
संशयात्माभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥

इत्यादिश्लोकैरुपश्लोक्यन्ते। मा चात्र प्रादुर्भवतु मयि दुर्बले ब्रह्मकोपः यदि कोप एवाधिरोहति तदा रोहतु भगवति बादरायणे येनेदं लिखितम्-

कामात् क्रोधाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रवर्तितम्।
सुराः मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं चक्रं नैतद्वेदेषु कल्पितम्।

इत्यादिवाक्यान्यपि तत्रैव गर्जन्ति।

तस्मादत्रभवद्भिः सर्वैरपि सम्भूय मोचनीयो विनियोगदास्याद्वेदः।

अत्र सायणमहीधरादीनामवहेलनं यदि भवति तदपि सोढव्यमेव। समराङ्गणे सकलस्यापि स्कन्धावरस्य रक्षार्थं राष्ट्ररक्षार्थं च सहस्राणां परःसहस्राणामपि च सैनिकानां वधं, शत्रौ निर्दयेन, राष्ट्रे सानुक्रोशेन च मनसा सहसैवादिशन्ति सेनापतयः। तदस्मिन् वेदविरोधिभिस्सह सम्प्रवृत्ते सम्पाते आचार्याः पितरः पुत्राः केऽपि न मर्षणीयाः।

तदित्थं वेदं विनियोगदास्यान्मोचयितुमुद्यतोऽहं सम्मुखमागताना-चार्यान् प्रति सविनयमित्थं ब्रवीमि किञ्चित् परिवर्तितेन भवभूतिवचनेन-

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।

नत्वेव दूषयिष्यामि वेदर क्षामहाव्रतम्॥

इत्थमर्धचन्द्रपरिग्रहाय भवतां सम्मुखमुपस्थितोऽस्मि। स इदानीं कृकाटे वा दीयतां ललाटे वा दीयतां प्रमाणमत्र सदसद्विवेकनिकषा भवन्त एवेति विरम्यते, अयं च निधीयते विद्वत्सन्निधौ मोलौ प्रणामाञ्जलिः।

आधुनिक मनोविज्ञान के 'अभिप्रेरणा सिद्धान्त' की जनक है, मीमांसाशास्त्रोक्त भावना की अवधारणा

प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय[१]

मानव जीवन शुभ और अशुभ, दोनों से ही परिवेष्टित है। इनमें से शुभ वाञ्छित है और अशुभ अवाञ्छित। शुभ कर्म में प्रवृत्ति अभीष्ट है और अशुभ से निवृत्ति आकाङ्क्षित है। ये दोनों ही स्थितियाँ, भारतीय मान्यता के अनुसार क्रमशः धर्म और अधर्म जन्य हैं। लेकिन कभी-कभी मनुष्य सब कुछ जानकार भी अशुभ से निवृत्त नहीं हो पाता है, जैसा कि एक सुचर्चित आभाणक में कहा गया है-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि दैवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

इसमें दैव नामक एक नयी कारक स्थिति का समावेश है। यह है भाग्यवाद या नियतिवाद, जिसे पुरुषार्थवादियों ने अस्वीकार कर दिया है। उनका बल पौरुष अथवा पुरुषार्थ के आचरण पर है-

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।

[१] पूर्व सचिव, सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन म०प्र०

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

इस सिद्धान्त को सार्थक मानते हुए भी एक बात यह उभरती है कि यदि स्वयं पिता पुरुषार्थ कर भी लें, तब भी वह अपने पुत्र की अकर्मण्यता पर किस प्रकार प्रहार कर उसे दूर करे? इस दृष्टि से ही अभिप्रेरणा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए एक छोटा बच्चा ज्वरग्रस्त है लेकिन वह दवा को कड़वी समझकर नहीं खाना चाहता है। इस स्थल पर प्रेरणा के लिए कोई प्रलोभन देना ही पड़ता है जैसा कि एक प्राचीन श्लोक से ज्ञात होता है-

शिखा ते वर्धते वत्स! गुडूचीं श्रद्धया पिब।

वत्स! तुम्हारी चोटी बढ़ जायेगी, यदि तुम श्रद्धापूर्वक गिलोय या गुर्च का यह काढ़ा पी जाओगे।

शिखा ते... वाले उदाहरण में ही शिखा वृद्धि और गिलोय सेवन का कोई अनुभव सिद्ध उदाहरण आयुर्वेद में नहीं मिलता है। यह उद्देश्य भी वक्ता का नहीं है। उसका उद्देश्य तो वास्तव में बच्चे को ज्वरमुक्त भर करना है। उसके लिए औषध सेवन जरूरी है।

वैदिक मान्यता के अनुसार काढ़ा पीने का यह परामर्श विधि है और शिखा बढ़ने का आश्वासन अर्थवाद है। परम्परा में ऐसे बहुसंख्यक अर्थवाद सुरक्षित हैं। कभी-कभी ऐसे अर्थवाद भी दिख जाते हैं, जो प्रत्यक्षतः असात्त्विक या काल्पनिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु लोगों को भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित करने के लिए यदा कदा कुछ लौकिक प्रलोभन भी दे देते थे, यथा -

मागुर माछेर झोल, जुबती नारीर खोल,
बोल हरि बोल, बोल हरि बोल।

भगवान् का नाम लो, इससे तुम्हें मागुर मछली का झोल और

युवती पत्नी प्राप्त होगी।

इन उपदेशों का एकमात्र प्रयोजन था जन मानस को भगवन्नाम लेने के लिए प्रेरित करना, भले ही वे लौकिक आकर्षणों से उस ओर प्रवृत्त हों। लोगों को मांसाहारी बनाना या कामुकता की ओर प्रेरित करना उनका उद्देश्य कदापि नहीं था।

आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह 'अभिप्रेरणा' (motivation) है, जिसे प्रोत्साहन (incentive or goal) भी कहा जाता है। यह सुरक्षा, सम्मान और आत्म सफलता के प्रयोजनों से वाञ्छित है। इसका उद्देश्य किसी विशेष प्रकार की उपलब्धि या सफलता है, जैसा कि मनोविज्ञान वेत्ता एटकिन्सन का सिद्धान्त है। इसके 'Acquired Motive' (अर्जितलक्ष्य) या Approved Motive जैसे अनेक भेद-प्रभेद हैं। इसमें जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ तथा मृत्यु से भय या उससे मुक्ति जैसे प्रयोजन सम्मिलित हैं। सुखवादी सिद्धान्तों का बाहुल्य (hedonistic principles) है। एक तरह से इसे उद्दीपक अभिप्रेरणा (stimulus motivation) भी कहा जा सकता है।

भारत में पूर्व मीमांसा दर्शन ने इस अभिप्रेरणा का निरूपण भावना के रूप में किया है, जिससे विधि और अर्थवाद दोनों का ही समावेश है। सामान्य भाषा में किसी व्यक्ति से मुझे कोई कार्य कराना है, तो उसे उसकी प्रेरणा किस प्रकार दी जाये, जिससे वह सहमत होकर उस कार्य के सम्पादन में संलग्न हो जाए। यही भावना का प्रयोजन है। मीमांसा शास्त्र मूलतः चूँकि धार्मिक कर्मकाण्ड से अधिक जुड़ा है, इसलिए इस सन्दर्भ में इसी के उदाहरण अधिक दिये गये हैं। यह शास्त्र यज्ञानुष्ठान आदि को ही धर्म मानता है, इसलिए इसकी मान्यता है- '**यागादिरेव धर्मः**'। शर्त यह है कि यह वेद प्रतिपाद्य और प्रयोजन सहित होना चाहिए। इसके सुचर्चित उदाहरण '**यजेत स्वर्गकामः**' में स्वर्ग की कामना

ही प्रयोजन है। प्रयोजक का उद्देश्य है कि किसी व्यक्ति को यज्ञानुष्ठान हेतु प्रवृत्त करना। कोई भी निष्प्रयोजन तो कोई कार्य करता नहीं है, इसलिए स्वर्ग प्राप्ति की आकाङ्क्षा भावी यागकर्ता में उत्पन्न करने के साथ ही उसके उपाय के रूप में यज्ञानुष्ठान विधि का भी समावेश किया गया है, जिसका लक्षण इस प्रकार है- **भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।**

भावना दो प्रकार की है- शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। अर्थसंग्रह की प्राचीन टीकाओं में इसका एक लोकप्रचलित उदाहरण दिया गया है। वह इस प्रकार है- यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा- **ओदनं पच** (भात पकाओ)। यहाँ भात पकाने वाला देवदत्त है- उसे भविता अर्थात् अभिप्रेरक माना जा सकता है, यज्ञदत्त भावयिता अर्थात् अभिप्रेरक है, जो देवदत्त में भात पकाने की भावना उत्पन्न कर रहा है। आज की भाषा में इन्हें नियोजक (यज्ञदत्त) और नियोजित (देवदत्त) भी कहा जा सकता है। यज्ञदत्त देवदत्त को क्या पकाना है कैसे पकाना है और किस (चावल इत्यादि) से पकाना है? यह भी बताता है। शास्त्रोक्त शब्दावली में इसे '**किं भावयेत**' '**केन भावयेत**' तथा '**कथं भावयेत्**' के रूप में व्यक्त किया गया है। भवनानुकूल में भवन का अर्थ है होने वाला कार्य और अनुकूल का तात्पर्य उस कार्य विशेष में उपादेय सामग्री और साधन।

वैदिक वाक्य ''**यजेत स्वर्गकामः**' में प्रेरणा देने का कार्य किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है। इसमें यह वाक्य ही अभिप्रेरक या 'भावयिता' है, जो यज्ञकर्ता में यज्ञ करने की प्रवृत्ति का उत्पादक है। **किम् भावयेत्** इत्यादि प्रसङ्ग में अर्थात् साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता का ज्ञान आर्थीभावना से होता है, जो आख्यात क्रिया के द्वारा होता है। इसमें साध्य है, स्वर्गादिरूप फल, साधन है यज्ञानुष्ठान और इतिकर्तव्यता है यज्ञानुष्ठान के अन्तर्गत क्रियमाण प्रयाजादि।

यज्ञार्थ भावना अर्थात् अभिप्रेरणा के उत्पादन में अर्थवादों/ प्रशस्तियों की भी विशेष भूमिका है। उदाहरण के लिए '**वायव्यं श्वेतमालभेत**' (वायुदेव के लिए श्वेत पदार्थ अर्पित करना चाहिए) वाक्य को लें। क्यों वायुदेव के लिए ही यह कार्य किया जाए? इसका उत्तर एक अर्थवादात्मक वाक्य में इस तरह दिया गया है- '**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**' (क्योंकि वायुदेव शीघ्रगामी है)।

इसी तरह के एक दूसरे अतिप्रचलित अर्थवाद में कहा गया है कि चाँदी का दान यज्ञ में नहीं करना चाहिए- '**बर्हिषि रजतं न देयम्**' यह रजत की निन्दा का प्रसङ्ग है। इसमें यह भी एक आख्यायिका के माध्यम से कह दिया गया है कि चाँदी का दान करने से घर-परिवार में रोने-धोने का प्रसङ्ग हो सकता है, क्योंकि रजत की उत्पत्ति रुदन से बहे आँसुओं से हुई है। यह केवल एक कहानी या अन्धविश्वास भर भी हो सकता है, लेकिन अर्थवाद अर्थात् प्रशंसा या निन्दापरक कथनों का मूल प्रयोजन मात्र यजमान को यज्ञ में स्वर्णदान के लिए प्रेरित करना भर है, जो चाँदी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है।

भावना या इस अभिप्रेरणा का वास्तविक उद्देश्य समाज को यज्ञानुष्ठान के निमित्त प्रोत्साहन प्रदान करना मात्र है, क्योंकि वैदिक चिन्तन के अनुसार यज्ञानुष्ठान पर्यावरण और सामाजिक सद्भाव की वृद्धि में अत्यन्त सहायक है। इससे शुद्ध वायु, समय पर वर्षा, समाजिक मेल-जोल इत्यादि सभी कुछ साध्य है। इस दृष्टि से मीमांसाशास्त्र को आधुनिक मनोविज्ञान के 'अभिप्रेरणा' सिद्धान्त का वास्तविक प्राचीन जनक माना जाना चाहिए क्योंकि मनोविज्ञान मीमांसा की अपेक्षा निश्चित ही नया शास्त्र है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र में वर्णित अग्निष्टोम मीमांसा

प्रो. रणजित् बेहेरा[१]

डॉ. विजित कुमार[२]

प्रस्तुत शोध पत्र का सम्बन्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र में वर्णित अग्निष्टोम याग से है जिसको समझने के लिये यज्ञ तथा याग शब्द पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। आचार्य पाणिनि ने **"यज-देवपूजा सङ्गति-करणदानेषु"**[३] इस धातु से **"नङ्"**[४] प्रत्यय करके यज्ञ शब्द सिद्ध किया है। इसी को आधार बनाकर बुद्धदेव विद्यालङ्कार ने शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा- जो समुदाय का अङ्ग बनकर समुदाय के योगक्षेम के लिए कार्य करता है वह यज्ञ है।[५] आचार्य यास्क ने यज्ञ के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करते हुए इसे यजनार्थ, अभीष्ट वस्तु की याचनार्थ तथा फल प्राप्त्यर्थ आदि अर्थों में व्याख्यायित किया है।[६] उपर्युक्त परिभाषाओं का अवलोकन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता

---

[१] **प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-०७**

[२] **शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-०७**

[३] धातुपाठ. भ्वादिगण-१०७४

[४] अष्टा.३.३.९०

[५] सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य सामुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः ॥ श. ब्रा. भूमिका पृ.३

[६] निरुक्त ३.४.१९

है कि यज्ञ शब्द देवपूजा, फलप्राप्ति तथा कल्याण अर्थों में व्याख्यायित हुआ है। याग शब्द यज-धातु से ही घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है।

इस प्रकार अर्थ की व्यापकता से इसकी महत्ता प्रसिद्ध है एतदर्थ यज्ञ प्राचीन काल से लेकर अद्यतन पर्यन्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए हैं। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं कल्पसूत्रों में (श्रौतसूत्र, ग्रह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्बसूत्र) अनेक यज्ञों का विशद विवेचन किया गया है। जिन्हें श्रौत और स्मार्त भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है वहाँ श्रौतयज्ञ का अर्थ ऐसे यज्ञों के विधान से है जिनका विधान साक्षात् श्रुति (संहिताएं, ब्राह्मणग्रन्थ) से होता है। वही स्मार्त यज्ञों का सम्बन्ध कल्पसूत्रों के विधान से है। निम्न सारणी के द्वारा स्मार्त एवं श्रौत यज्ञों का प्रविभाग ज्ञात किया जा सकता है।

श्रौत एवं स्मार्त

पाकयज्ञ	**हविर्यज्ञ**	**सोमयाग**
औपासन	अग्निहोत्र	अग्निष्टोम
वैश्वदेव	दर्शपौर्णमास	अत्यग्निष्टोम
पार्वण	आग्रयण	उक्थ्य
अष्टका	चातुर्मास्य	षोडशी
मासिकश्राद्ध	निरूढपशुबन्ध	वाजपेय
श्रवण	सौत्रामणी	अतिरात्र
शूलगव	पिण्डपितृ	आप्तोर्याम

प्रस्तुत सारणी में सोम संस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें अग्निष्टोम याग का उल्लेख किया गया है।

अग्निष्टोम का स्वरूप और महत्ता

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अग्निष्टोम साक्षात् अग्नि है।[७] क्रतुरूप (यज्ञरूप) अग्नि को देवों ने स्तोम (मन्त्रों) से स्तुति की इसीलिए उसका नाम अग्निस्तोम हुआ। अग्निस्तोम होते हुए उस नाम से युक्त क्रतु को परोक्ष रूप से व्यवहार के लिए वैदिक सकार एवं तकार का ष एवं टकार के वर्णान्तर के कारण अग्निस्तोम को अग्निष्टोम हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण में उक्त सन्दर्भ में ही चतुस्त एवं ज्योतिस्तोम अन्य दो नाम भी प्राप्त होते हैं।[८] इस अग्निष्टोम में यज्ञायज्ञीय अग्निष्टोम नामक साम का सबसे अन्त में पाठ किया जाता है। इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम हुआ।[९] अग्निष्टोम को गोपथ ब्राह्मण में स्वर्ग प्राप्ति का साधन माना गया है[१०] तथा शतपथ ब्राह्मण इसे अन्धकार नष्ट कर ज्ञान प्राप्ति का हेतु स्वीकारता है।[११] ऐतरेय ब्राह्मण में अग्निष्टोम का साम्य गायत्री के साथ करते हुए कहा है कि जिस प्रकार गायत्री ऊर्ध्वगामी होकर यजमान को स्वर्ग को प्राप्त कराती है वैसे ही अग्निष्टोम भी।[१२] सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए अग्निष्टोम याग करने की प्रेरणा करता है।[१३] इस याग में १६ ऋत्विज् होते हैं जिनको चार गणों में विभाजित किया जाता है। साथ ही इसमें उपयमनी महावीरपात्र, रौहिणवहण, स्रुव, कृष्णाजिन जैसे पात्रों का भी

---

[७] ऐतरेय. ३.१४.५१

[८] एतरेय. ३.१४.५

[९] एतरेय ब्राह्मण पर सुधाकर मालवीय की टिप्पणी-पृ.९

[१०] गोपथ.ब्रा.१.३.१७

[११] शत.११.५.५.१

[१२] ऐत.ब्रा.३.४.१

[१३] सत्याषाढ़ श्रौत.७.१.१

प्रयोग होता है ।

ऋत्विग्गण

होतृगण	**अध्वर्युगण**	**उद्गातृगण**	**ब्रह्मगण**
होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा
मैत्रावरुणा (प्रशास्ता)	प्रतिप्रस्थाता	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी
अच्छावाक्	नेष्टा	प्रतिहर्ता	आग्नीध्र (अग्नीत)
ग्रावस्तुत	उन्नेता	सुब्रह्मण्य	पोता

अग्निष्टोम में विधियाँ –

अग्निष्टोम याग इस श्रौत सूत्र की आत्मा है जिसका बहुत सुन्दर व्याख्यान किया गया है। इसमें सोम नामक पदार्थ के द्वारा इस याग की सिद्धि की जाती है। यज्ञादि कार्यों के सुसम्पादनार्थ सर्वप्रथम ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है। ऋत्विजों के बिना यज्ञादि कर्म निष्पन्न नहीं हो सकते अतः यह निश्चित है कि ऋत्विजों पर ही समस्त यज्ञ कर्म की प्रतिष्ठा निर्भर है।[१४] पुराणों स्मृतियों व सूत्रों में ऋत्विजों के लक्षण की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार गदाधर ने कहा है कि जो दक्षिणा लेकर श्रौतस्मार्त कर्म करता है उसे ऋत्विक् कहते हैं।[१५] पद्मपुराण में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को ऋत्विक् बताया गया है।[१६] इसमें १६ ऋत्विजों के कार्यों का वर्गीकरण किया गया है।

---

[१४] ऋत्विजो हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः ॥ ऐत.ब्रा.९.८

[१५] ऋत्विक् यो दक्षिणा परिक्रीतः कर्माणि करोति। पारस्कर गृह्यसूत्र १.३.१

[१६] ये च यज्ञकरा विप्रा य ऋत्विज इति स्मृताः ॥ पद्मपुराण ३६.३८

उद्गातृप्रवृत्ति क्रमविधि -

आचार्य जैमिनीय ने सर्वप्रथम उद्गाता के कर्तव्य कर्मों का विधान करते हुए कहा[१७] उद्गाता को सोम का प्रवचन करने वाले सोमप्रवाक् से पाँच प्रश्न पूछने चाहिए, प्रथम ऐसा कौनसा यज्ञ है जिसकी निरन्तरता कभी समाप्त नहीं होती अर्थात् जो अहीन यज्ञ होता है, द्वितीय अनुद्देश्य यज्ञ कौन सा है तृतीय कौनसा यजमान त्याज्य है, चतुर्थ कौन यज्ञ करने एवं कराने का अधिकारी है तथा पञ्चम प्रश्न यज्ञ की दक्षिणा के विषय में पूछना चाहिए, तदनन्तर इन प्रश्नों के साथ ही जन्म, कर्म और ऋत्विज् इन तीन बातों का ऋत्विक् और यजमान के विशेष सन्दर्भ में विचार करना चाहिए। आचार्य जैमिनि ने इन पाँच प्रश्नों का उत्तर देते हुए लिखा है कि अतिरात्रयज्ञ प्रथम अहीन है क्योंकि **नहि सो अहोरात्रयोर्हीयते किञ्चिदिति** क्योंकि वो रात और दिन में कभी समाप्त नहीं होता, अनुद्देश्य यज्ञ वह है जब किसी की मृत्यु के समय शव रखा हुआ हो उस समय जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम शास्त्र में अन्तशव कहा गया है, आगे कहा कि जो यजमान दुष्टकर्म (पापकर्म) करने वाला हो उसके यहाँ यज्ञ नही कराना चाहिए। तदनन्तर अधिकारी के विषय में निर्देश करते हैं कि ऋत्विक् और यजमान अनूचान (वैदिक शास्त्रों को जानने वाले हो) मित्रभाव तथा सुचरित्र आदि गुणों से युक्त होने चाहिए उन्हीं को यज्ञ करना और कराना चाहिए, यज्ञ की दक्षिणा के विषय में विचार प्रस्तुत करते हुए जैमिनि कहते हैं- यज्ञ में दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए बिना दक्षिणा के यज्ञ सफल नहीं होता। क्या यज्ञ की दक्षिणा पूछनी चाहिए तब जैमिनीय आचार्यों का मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि

---

[१७] जैमिनीय श्रौ.१.१

शाट्यायनी के मत में यज्ञ की दक्षिणा नहीं पूछनी चाहिए क्योंकि दक्षिणा पूछना क्रय का रूप हो जाता है पुरोहित को वेंचने का रूप हो जाता है परन्तु आचार्य ताण्ड्य के मतानुसार दक्षिणा पूछनी चाहिए क्योकि जो दक्षिणा है वही यज्ञ का फल है और जो व्यक्ति फल को नहीं जानता वो कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

यजमान ऋत्विक् का आसन, जल, मधु, वस्त्र, स्वर्णादि देकर सत्कार करता है पश्चात् यजमान पुरोहित का वरण करता है उस समय पुरोहित उपांशु रूप में मन्त्रपाठ करता है। प्रत्येक मन्त्र को पढ़ने से पूर्व ओ३म् का उच्चारण किया जाता है। सभी सोम (राजन्) की सम्पूर्ण तैयारी करते हैं तत्पश्चात् ऋत्विक् के द्वारा सुब्रह्मण्य (जो यज्ञ कराने के लिए निश्चित किया गया है) का आह्वान किया जाता है वह आकर यज्ञोपवीत और आचमन करता है अन्य ऋत्विज् अतिथिओं का सत्कार करते हैं।

अग्निचयन विधि

आगे अग्निचयन का विधान करते हुए सभी सपत्नीक ऋत्विक् और यजमान सभी निधन (निधन सभी के द्वारा मिलकर गाये जाने वाले साम का गान है) को प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त विभिन्न सामों के गानों के साथ-साथ प्रवर्ग्य (प्रस्तोता) उद्वासन (बैठना) विधि का उल्लेख किया गया है। जिसमें औदुम्बरी की स्थापना और पितापुत्रीया (वंश परम्परा की आहुति) की चार आहुतियों का उल्लेख करते हुए विश्वरूपा साम के गान की विधि के पश्चात् सबके उपवेशन की विधि का उल्लेख करते हुए अध्वर्यु के सबसे पहले निकलकर बैठने का विधान किया गया है। पवमान मन्त्रों के गान की विधि के साथ उद्गाता चात्वाल का मार्जन करते हुए पाँच मन्त्रों का पाठ करता है। पश्चात् धिष्ण्या (धिष्ण्या नाम की एक

विशेष स्वल्प वेदी बनाई जाती है जिस पर अग्नि की स्थापना करके होता लोग अपने-अपने शस्त्रों का पाठ करते हैं।) के उपस्थान की विधि का उल्लेख है फिर सोम के भक्षण-आप्यायन (भक्षण) विधि का वर्णन किया गया है।

सवनविधि-

प्रातःसवन (कालीन) और माध्यन्दिन सवन में दक्षिणा के विधान का उल्लेख करते हुए कहा है पहली दक्षिणा आत्रेय को गाय के रूप में दी जाती है फिर ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता पश्चात् सदस्य फिर होत्रक को दक्षिणा देने का विधान के साथ अन्त में प्रसर्पक (यज्ञ का दर्शन अथवा सुनने आने वाले लोग) को फिर अतिथियों को दक्षिणा देने का विधान है। श्रौतसूत्र के १९वें खण्ड में तृतीय सवन मे किये जाने वाले कार्यों का वर्णन है पश्चात् तृतीय सवन की उत्तरविधि और दक्षिणा के विधान के साथ ही विभिन्न साम गानों का उल्लेख करते हुए जैमिनीय श्रौतसूत्र का समापन किया गया है।

अग्निष्टोम याग में सर्वप्रथम ऋत्विक् वरण किया जाता है। पश्चात् यजमान को यज्ञोपवीत धारण करवा कर आचमन करवा कर उद्गाता स्तोत्रों के पाठ में पुष्टि एवं ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। इस दीक्षणीयेष्टि के पश्चात् प्रायणेष्टि के साथ-साथ सोमक्रयण की विधियों का विवेचन किया गया है तत्पश्चात् आतिथ्येष्टि प्रवर्ग्य जैसी महत्वपूर्ण विधियाँ मुख्य हैं। जैमिनीय में सवनों का विस्तार से वर्णन किया गया है–

प्रातःसवनविधि

नाराशंस (भक्षित और आप्यायित चमस) रखे हुए हैं जिनसे अध्वर्युगण ऋतुयाज (सोमयाग) में घृत की आहुति देने के उपरान्त नाराशंसों से सोम का भक्षण करते हैं। **अवमैस्ते पितृभिर्भक्षितस्य**

गायत्रच्छन्दसः प्रातःसवनस्य मधुमतो नाराशंसस्योपहूतोपहूतो भक्षयामि से प्रातःसवन में, **वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यत्विति। ऊर्वैरिति माध्यन्दिने सवने** मन्त्र से माध्यान्दिन सवन में, **काव्यैरिति** मन्त्र से तृतीय सवन में भक्षण करते हैं। अनुष्टुप् छन्द में षोडशी ऋचा से भक्षण किया जाता है अनन्तर परस्पर हिरण्य (स्वर्ण) दान करते हैं और पुनः षोडशी मन्त्रों के द्वारा स्तुति करते हैं उस क्षण में **अश्व उपतिष्ठते साम्येक्षाम्** (साम्येक्षाम के दो अर्थ हो सकते हैं - १.ऐसा अश्व जो स्वस्थ हो जिसके सभी अङ्गों में साम्य हो, २. ऐसा कोई व्यक्ति जो समदृष्टि से क्रिया को देखता रहता है) अश्व शब्द का एक अर्थ घोड़ा है दूसरा अर्थ प्रजापति परमेश्वर है, अतः प्रजापति परमात्मा से सम्बद्ध ऋचा का पाठ भी यहाँ किया गया है।

यस्माज्जातो न परोऽन्यो अस्ति य आ बभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सं रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीति षोडशिग्रहमवेक्षते इस मन्त्र से षोडशी ऋचा से भक्षण करते हैं तत्पश्चात् हरवती षोडशी ऋचाओं से भक्षण करते हैं। **इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतत्। तयोरहं भक्षमनु भक्षयामि। वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यत्विति** इस मन्त्र का बृहती छन्द में पाठ करते हैं। **सन्धेरिष्ट यजुष इति वा** मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रश्न शैली में कहा किसके द्वारा क्या खिलाते हैं तो कहा मन के द्वारा मन्त्रजपपूर्वक मन को खिलाते हैं। किसको खिलाते हैं तो कहा वाजपेय याग में साम्य ऋचा से और अतिरिक्त यागों में अतिच्छन्दस मन्त्रों द्वारा मन को भक्षण कराया जाता है। प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवन में दो नाराशंस होते हैं तथा तृतीय सवन में एक ही नाराशंस होता है।

विष्टुत नाम के वास (वस्त्र) का आहरण करना चाहिए जिसके

द्वारा अधिक या विशेष प्रशंसा की जाती है। वैष्टुत संज्ञायुक्त वस्त्र का आहरण करना चाहिए क्योंकि यह वस्त्र सामों की शोभा होता है। औदुम्बर के लिए प्रादेश मात्र स्तुतियाँ होती हैं, जो औदुम्बर है वह ऊर्जाशाली अन्न है जो शक्ति को बढ़ाने के लिए ही है।

होता को दो उत्तर और दो दक्षिण से धिष्ण्य प्रदान करते हैं। उद्गातृगण १५ आग्नेय मन्त्रों से अग्नि देवता की स्तुति करते हैं जो सामवेदानुसार होती है। मैत्रावरूण देवता की आज्य द्वारा एन्द्री और आग्नेयी ऋचाओं से स्तुति की जाती है।[१८]

माध्यन्दिन विधि

यहाँ मात्र पवमान दक्षिणा विधि का ही व्याख्यान किया है, पूरी विधि का विवेचन नहीं किया गया। क्योंकि जिस प्रकार से प्रातःसवन की विधि है उसी प्रकार माध्यन्दिन सवन की भी विधि वर्णित की गयी है परन्तु यहाँ जो कुछ विशेष व्यवस्था है उसका विचार किया गया है। सदस (यज्ञशाला) में आकर पवमान मन्त्रों से स्तुति की जाती है तथा प्रत्येक सामगान के प्रारंभ में हिंकार का प्रयोग किया जाता है अनन्तर दधिघर्म युक्त मन्त्रों से स्तुति की जाती है। दाक्षिण यज्ञ किया जाता है जिसमें दक्षिणा दी जाती है, पहली दक्षिणा आत्रेय को गायरूप में दी जाती है पश्चात ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता को क्रमशः दी जाती है। अन्त में सहयोगियों को जिनमें होत्रक (होता का सहयोगी), प्रसर्पक (वे लोग हैं जो इसके दर्शन तथा सुनने मात्र के लिए आए हैं) तथा पधारे हुए अतिथिओं आदि को दक्षिणा देने का विधान किया गया है। दक्षिणा लेने के बाद उत्तर में बैठकर सुब्रह्मण्या का तीन बार आह्वान करते हुए दक्षिणा

[१८] काव्यैरिति तृतीयसवने, जै.श्रौ.सू.१.१६

विधि समाप्त होती है।[१९]

तृतीय सवन क्रियमाणविधि

अध्वर्यु तृतीय सवन में प्रपदन को ढके हुए अन्दर प्रवेश करके वेदि की परिक्रमा करने के उपरान्त आदित्य का उपस्थान करता है- **अध्वनामध्वपत इत्यैतेनैव इति।** एन्द्री ऋचा का गान करता है। **अथैन्द्रीमावृतमन्वावर्त** दक्षिण बाहु को पर्यावृत (ढकना) करके आग्नीध्र और सदस की परिक्रमा करने के बाद सदस को देखता हुआ धिष्ण्याओं का उपस्थान करता है **आग्नयः सागरा इत्येतेनैव।** हविर्धान को प्राप्त करने के अनन्तर पूतभृत ऋचाओं का पाठ करता है तथा **वसवस्त्वा पुनन्त्वित्येतेनैव** से पूतभृत को पवित्र करते हुए आधवनीय का पाठ करता है।

पूतभृतो मुखे पवित्रं वितनोति पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पत इत्येतेनैव इस मन्त्र से पूतभृत के मुख के ऊपर जल को छिड़कता है तथा आदेशानुसार शुक्र की पवित्रता करता है। इस प्रकार ऋचा से शुक्र को पवित्र करके पुनः अन्दर सदस में आकर पवमान मन्त्रों से स्तुति करता है और प्रत्येक साम के गान में हिंकार का उच्चारण किया जाता है। आप्रतिहार सामगान को करने के पहले उष्णिक् और ककुभ ऋचाओं का गान करता है अनन्तर पशु के साथ विचरण करता है। पश्चात् पुरोडाश को तैयार किया जाता है राजा जिसका भक्षण करता है। नाराशंस को उपस्थिति करके तीन प्रकार से आवृत्त करके पुरोडाश को टुकड़ों में रखते हुए कुछ भाग पितर, पितामह एवं प्रपितामह के लिए रखा जाता है।[२०]

---

[१९] संरसर्य सदसि अवमानेन स्तुवते, जै.श्रौ.सू.१.१७

[२०] तृतीयसवने प्रपदनस्यावृता प्रपद्य वेद्याक्रमणेन वेदिमाक्रम्यादित्यमुपतिष्ठते,

तृतीय सवन उत्तरविधि

तृतीय सवन की उत्तर विधि का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है- वैश्वदेव शस्त्र पाठ के उपरान्त नाराशंसों का भक्षण करना चाहिए। तदुपरान्त आग्नीध्र को शलाकाओं में अग्नि की कल्पना करनी चाहिए अर्थात् अग्नि को उद्बुद्ध करना चाहिए तब अध्वर्यु सोमदेवत्व के मंत्रों से आहुति डालते है उसके उपरान्त उस चरु को सदस्य भक्षण करते हुए देखते हैं। **यन्मे मनो यमं गतं यद्वा मे अपरागतं राज्ञा सोमेन तद्वयं पुनरस्मासु दध्मसि। मनसि मे चक्षु राधाश्चक्षुसि मे मनः आयुष्मत्या ऋचो मा छेत्सि मा साम्नी भागधेयाद् वियोषमिति** मन्त्र से उसी यज्ञशाकल्य में अपनी छाया का पर्यवेक्षण करता है, दीर्घ आयु के लिए कामना करता है तथा घी को आँखों पर लगाते हुए नेत्र-ज्योति वर्द्धन की प्रार्थना करता है। कोई व्यक्ति उस चरु में स्वयं के चेहरे को देखने का प्रयत्न करता है परन्तु चेहरा न दिखाई पड़े तो समझ लेना चाहिए कि वह मृत्यु के निकट है इसलिए घृत विद्यमान होने पर भी और मात्रा बढ़ाकर स्वयं को देखने की कोशिश करनी चाहिए जिससे चेहरा दिखाई दे सके। ऐसा करने से लम्बी आयु प्राप्त होती है। सोम देवता परक मन्त्रों को पढ़ते हुए चरु को अपनी आंखों पर रखता है।

येन ह्याजि मजयन्नृचक्षा येनश्येनं शकुनं सुपर्णम्। यदाहुश्चक्षुरदितावनन्तं सोमो नृचक्षा मयि तद्दधात्विति से चरु को देखते हुए दक्षिण से जघाँ के अर्धभाग में औदुम्बरी का ग्रहण करते हुए सदस में आता है। **प्रजापते र्भागोऽसीति** से यज्ञायज्ञीय स्तोत्र का आहरण करता है फिर प्रावृत गान गाया जाता है, द्वितीय ऋचा रथन्तर शब्द वाले

जै.श्रौ.सू.१.१९

सूक्त का उच्चारण किया जाता है। सभी के द्वारा सम्मिलित गान के बाद ऋत्विक पत्नी को देखते हुए मन्त्र पढ़ता है- **वामी नाम संदृशि विश्वा वामानि धीमहीति। वृष्णस्ते वृष्ण्यायतो विश्वा रेतांसि धीमहीतीतरा।** यज्ञायज्ञीय ऋचा के द्वारा सोम के भक्षित होने पर सदस के अन्य द्वार से बाहर निकलता है तथा एक अन्य द्वार से आग्नीध्रगृह को प्राप्त करके स्रुवा से आग्नीध्र अग्नि में घृत की आहुतियाँ प्रदान करता है- **अपां पुष्पमस्योषधीनां रस इन्द्रस्य प्रियतमं हविः स्वाहेति** से प्रथम आहुति तथा द्वितीय मौन आहुति देता है।[२१]

निष्कर्ष -

यज्ञ मानव जीवन के महत्वपूर्ण सुखों के साधनों मे से एक है यज्ञ वातावरण शुद्धि के साथ साथ मनुष्य के आत्मिक और मानसिक शुद्धि का भी मूल आधार है। इन यज्ञों की वैज्ञानिकता के विषय में वैदिक काल से ऋषियों मुनियों का चिन्तन उद्घाटित होता रहा है। फिर भी इनमें कालानुगत अनेक विकृतियाँ समाज में देखने को मिलती हैं। प्रस्तुत पत्र में भी यज्ञों की विशद परम्परा में अतिमहत्वपूर्ण अग्निष्टोम याग का विवेचन किया गया है। जिसका जैमिनीय श्रौतसूत्र में विशेष वर्णन किया गया है। जैमिनीय के सन्दर्भ में अग्निष्टोम की विभिन्न विशेषताओं के साथ ही सामान्य रूप से कुछ पात्रों, ऋत्विजों एवं विधिओं का उल्लेख किया गया है जिससे यज्ञ वास्तविक रूप में फलदायी होता है। अतः जैमीनीय श्रोतसूत्र में वर्णित अग्निष्टोम यज्ञ के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ में सभी नियम तथा विधियों का प्रामाणिकतापूर्वक पालन होना चाहिये उसी से कामपूर्ती सम्भव है। इस प्रपत्र में सामान्य विषय प्रवेश ही

[२१] भक्षितेष्वग्नीञ्छालाकानुपकल्पयते, जै.श्रौ.सू.१.२०

उद्घाटित किया गया है। क्योंकि जैमिनीय श्रौतसूत्र का हिन्दी अनुवाद भी अपने आप में एक महनीय कार्य है।

सन्दर्भग्रन्थसूची-

१. धातुपाठ, सम्पा.- डॉ. नरेश झा -चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, २०१७
२. अष्टाध्यायी, सम्पा.- गोपालदत्त पाण्डेयः -चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, २०१७
३. शतपथब्राह्मणम्, भाष्यकार- पं. बुद्धदेव विद्यालङ्कार (स्वामी समर्पणानन्द), दीक्षानन्द सरस्वती समर्पण शोध संस्थान, संस्करण- प्रथम १९९०
४. निरुक्तम्, भाष्यकार-चन्द्रमणि विद्यालङ्कार पालीरत्न, हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, वि. स.-२०६३
५. ऐतरेयब्राह्मणम्, आर. अनन्ताकृष्णा शास्त्री, त्रावणकोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज, १९४२
६. गोपथब्राह्मणम्, व्याख्याकार, पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली-१९९३
७. सत्याषाश्रौतसूत्रम्, व्याख्याकार- महादेव शास्त्री, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, १९३०
८. जैमिनीश्रौतसूत्रम्, सम्पा. प्रेमनिधि शास्त्री, इन्टरनेशनल अकेडमी ऑफ़ इन्डियन कल्चर नई दिल्ली, १९६६
९. अग्निष्टोम यज्ञपद्धति विमर्श, लेखक- डॉ. नारायण दत्त शर्मा, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स दिल्ली, २००२
१०. श्रौतयज्ञविश्लेषणम्, लेखक व सम्पा. डॉ. सुन्दर नारायण झाः, श्री

लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृत-विद्यापीठम् नवदेहली, २०१२

११. कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्शः, सम्पा. डॉ. मनोहरलाल द्विवेदी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली, २०१०

१२. श्रौतयज्ञमीमांसा, लेखक-युधिष्ठिर मीमांसक, श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट कलकत्ता, २००४

वैदिक यज्ञों की लोक परम्परा, प्रयोजन एवं प्रतिष्ठा

प्रो. पंकज कुमार मिश्र[१]

यज्ञ भारतीय संस्कृति का आदि प्रतीक है। इस संस्कृति में जितनी महत्ता यज्ञ को दी गई है, उतनी और किसी को नहीं दी गयी है। जीवन का कोई भी शुभ-अशुभ धर्म कृत्य यज्ञ के बिना पूर्ण माना जाता हो। इन सबके साथ यज्ञ में जो प्रेरणा प्रवाह निहित है, साधना का समग्र विधान विद्यमान है, वह स्वयं में विलक्षण है। यज्ञ में निहित जीवन दर्शन व्यक्ति, परिवार, समाज-संस्कृति, प्रकृति-पर्य़ावरण, सकल सृष्टि एवं ब्रह्माण्ड को स्वयं में समेटे हुए है। इसमें भौतिक विकास-आध्यात्मिक उन्नयन, इहलोक-परलोक, विज्ञान-अध्यात्म जीवन के दोनों विरोधी ध्रुव अपनी समग्रता में गुंथे हुए मिलते हैं, जो यज्ञ के दर्शन की विशिष्टता है। साथ ही इसमें जीवन साधना का वह पथ निर्दिष्ट है, जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है, वहीं से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है और व्यक्तित्व के मर्म को स्पर्श करते हुए, उसके रूपान्तरण के साथ चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है और व्यक्ति के उत्कर्ष के साथ समष्टि के कल्याण को सुनिश्चित करता है।

यज्ञ, कर्मकाण्ड की विधि है, जो परमात्मा द्वारा ही हृदय में सम्पन्न

[१] **एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, सेंट स्टीफेंस कॉलेज, दिल्ली-७**

होती है। जीव के अपने सत्य का परिचय जो परमात्मा का अभिन्न ज्ञान और अनुभव है, यज्ञ की पूर्णता है। यह शुद्ध होने की क्रिया है। इसका सम्बन्ध अग्नि से प्रतीक रूप में किया जाता है।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४/८ गीता

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१/६ गीता

शरीर या देह सेवा को छोड़ देने का वरण या निश्चय करने वालों में यज्ञ अर्थात् जीव और आत्मा की क्रिया या जीव का आत्मा में विलय, मुझ परमात्मा का कार्य है।

वैदिक संस्कृति का आधार

वेदों के सर्व पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही अग्नि के रूप में इसके स्वरूप की प्रार्थना के साथ शुरु होता है, जिसमें अग्नि को पुरोहित की संज्ञा दी गई है। वैदिक युग से ही उपासना के साथ यज्ञ के युग्म को पूरक माना गया। यज्ञ अपने में एक समर्थ और समग्र दर्शन है। इसकी सरल और सुबोध प्रेरणाओं में मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने के वे सारे तत्त्व मौजूद हैं, जो संसार के किसी अन्य दर्शन में नहीं हैं। यज्ञीय दर्शन व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ, शालीन एवं समुन्नत बनाने में समर्थ है। अपने में वह समग्र है। यज्ञीय प्रेरणाओं को व्यवहार में उतारा जा सके तो स्थायी सुख-शान्ति का मजबूत आधार बन सकता है।

भारतीय संस्कृति के हर युग में यज्ञ के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा पढ़ सकते हैं।

यजुर्वेद में स्पष्ट घोषणा है कि, सुख-शान्ति चाहने वाला कोई व्यक्ति यज्ञ का परित्याग नहीं करता। जो यज्ञ को छोड़ता है, उसे यज्ञ रूप परमात्मा भी छोड़ देते हैं। सबकी उन्नति के लिए आहुतियाँ यज्ञ में छोड़ी

जाती हैं, जो नहीं छोड़ता, वह राक्षस हो जाता है। रामायण काल के पुत्रेष्टि यज्ञ, सर्पयज्ञ, अश्वमेध यज्ञ चर्चित प्रकरण हैं। महाभारत काल में राजसूय यज्ञ की विशिष्ट चर्चा होती है। वास्तव में यज्ञ जीवन के सांसारिक उत्कर्ष के साथ परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाला साधन है।

वैदिक संस्कृति के मर्म ग्रन्थ, वेदों के निचोड़ तथा उपनिषदों के सार श्रीमद्भगवतगीता में यज्ञ के स्वरूप, दर्शन एवं महत्त्व पर विशद एवं विहंगम प्रकाश डाला गया है।

यज्ञ का व्यवहारिक तत्त्वदर्शन

यज्ञ, यज धातु से बना है, जिसके तीन अर्थ हैं, जो इसके व्यवहारिक एवं समग्र स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। १. देवपूजन, २. संगतिकरण और ३. दान। इन तीनों प्रवृत्तियों में व्यक्ति एवं समाज के उत्कर्ष की सम्भावनाएं विद्यमान हैं। देवपूजन का अर्थ है - परिष्कृत व्यक्तित्व, दैवी सद्गुणों का अनुगमन। सङ्गतिकरण, अर्थात् एकता, सहकारिता, संघबद्धता। दान अर्थात् समाज परायणता, विश्व कौटुम्बिकता एवं उदार सहृदयता। इन तीनों प्रवृतियों का प्रतिनिधित्व यज्ञ करता है। यज्ञ का वेदोक्त आयोजन शक्तिशाली मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण, विधिपूर्वक बनाए हुए कुण्ड, शास्त्रोक्त समिधाएँ तथा सामग्रियाँ जब ठीक विधानपूर्वक हवन की जाती हैं, उनका दिव्य प्रभाव विस्तृत आकाश मण्डल में फैल जाता है। उसके प्रभाव के फलस्वरूप प्रजा के अन्तःकरण में प्रेम, एकता, सहयोग, सद्भाव, उदारता, ईमानदारी, संयम, सदाचार, आस्तिकता आदि सद्भावों का स्वयंमेव आविर्भाव होने लगता है।

शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शान्ति के लिए प्राचीन ऋषि-

मुनियों ने अनेक विधानों की व्यवस्था की थी, जिनका पालन करते हुए मानव अपनी आत्मशुद्धि, आत्मबल-वृद्धि और आरोग्य की रक्षा कर सकता है, इन्हीं विधि-विधानों में से एक है यज्ञ। वैदिक विधान से हवन, पूजन, मन्त्रोच्चारण से युक्त, लोकहित के विचार से की गई पूजा को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ मनुष्य तथा देवताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला माध्यम है।

यज्ञ तत्त्वदर्शन-

उदारता, पवित्रता और सहकारिता की त्रिवेणी पर केन्द्रित है। यही तीन तथ्य ऐसे हैं, जो इस विश्व को सुखद, सुन्दर और समुन्नत बनाते हैं। ग्रह नक्षत्र पारस्परिक आकर्षण में बैठे हुए ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे का महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान भी करते रहते हैं। परमाणु और जीवाणु जगत् भी इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे अपनी गतिविधियाँ सुनियोजित रीति से चला रहा है। सृष्टि संरचना, गतिशीलता और सुव्यवस्था में सन्तुलन इकोलॉजी का सिद्धान्त ही सर्वत्र काम करता हुआ दिखाई पड़ता है।

यह यज्ञीय परम्परा है, जिसके कारण जड़ और चेतन वर्ग के दोनों ही पक्ष अपना सुव्यवस्थित रूप बनाए हुए हैं।

यज्ञ और अग्नि

अग्नि यज्ञ का केन्द्रीय तत्त्व है, जो अजस्र प्रेरणाओं से भरा हुआ है। यज्ञीय प्रेरणाओं का महत्त्व समझाते हुए ऋग्वेद में यज्ञाग्नि को पुरोहित कहा गया है- **यज्ञस्य देवमृत्विजम्**। अन्यत्र अग्नि को **भूपति, भुवनपति** तथा **भूतानां पतिः** कहा गया है (जैमिनि ब्राह्मण)। तैत्तिरीय संहिता में अग्नि को **प्रियतम छन्द** अर्थात् प्रिय प्रवाह कहा गया है। इस प्रवाह में

मन रूपी प्राण स्फुल्लिंग को प्रवाहित कर सूक्ष्म लोकों की गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करता है।

आत्मिक प्रयोजनों में भी अग्नि का प्रयोग विशिष्ट है। तपश्चर्या, योग साधना में अग्नि की समीपता एवं सहायता से अनेक उपासनात्मक उपचार होते हैं। अग्नि पूजा वस्तुतः यज्ञप्रधान विषय ही है। न्यायदर्शन, मानुस्मृति, सिद्धान्तशिरोमणि, गोपथ ब्राह्मण, गीता प्रभृति शास्त्रों में उपासनात्मक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों में आने वाली अग्नि को यज्ञाग्नि कहा गया है। उसके प्रकटीकरण एवं क्रियान्वयन की पद्धति को ही अग्निहोत्र कहते हैं।

अथर्ववेद के अनुसार हमारे अनुदान और प्रतिवेदन देवताओं के पास अग्नि के माध्यम से पहुँचते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि ही देवताओं के गुण हैं। वे इसी माध्यम से मनुष्यों की भेंट स्वीकार करते और अपने वरदान उन पर उड़ेलते हैं। स्वर्ग तक आत्मा को पहुँचाने वाला वाहन यज्ञाग्नि को माना गया है। यज्ञीय सत्कर्मों से प्रसन्न हुए देवता, मनुष्यों की सुख सुविधा का सम्वर्धन करते हैं तथा उन्हें समुन्नत बनाते हैं।

यज्ञ की परम्परा एवं इतिहास

अग्नि देव की स्तुति के साथ ऋग्वेद का प्रारम्भ भारतवर्ष में यज्ञ का प्राचीनतम ऐतिहासिक-साहित्यिक साक्ष्य है। सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के प्राक्ऐतिहासिक काल में हम यज्ञ के स्पष्ट प्रमाण पाते हैं और यह ऐतिहासिक सत्य है कि भारत के चिर अतीत से प्रारम्भ यज्ञ की विधा, वैदिक युग तक जीवन का अभिन्न अङ्ग बन गई थी। वहीं सिन्धु घाटी की सभ्यता के कालीबङ्गा, लोथल, बनावली एवं राखीगढ़ी के

उत्खननों से प्राप्त अग्निवेदियाँ इसका पुरातात्त्विक प्रमाण हैं। ये वेदियाँ वस्तुतः मिट्टी के बने गड्ढे थे, जिनमें प्रत्येक का आकार लगभग ४५x४५ सेंटीमीटर था। लोथल से आयताकार एवं वृत्ताकार अग्निवेदियां मिली हैं, जिनका उपयोग कदाचित् पारिवारिक अनुष्ठानों के लिए किया जाता था।

यज्ञ मनुष्य तथा देवताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला सर्वाधिक प्रसिद्ध माध्यम था। यही कारण है कि क्रमशः यज्ञों की संख्या बढ़ती गई तथा आनुष्ठिक दृष्टि से अनेक याज्ञिक प्रथाएँ प्रचलित हो गयीं, यथा-अग्निहोत्र, दर्श और पौर्णमास, षोडशी अतिरात्र, पुरुषमेध, पञ्चमहायज्ञ आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित थे तथा वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों को सम्पन्न करना प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था। पञ्चमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। इसके अन्तर्गत भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ अनुष्ठेय थे। राजसूय यज्ञ राजाओं द्वारा सम्पन्न किए जाते थे।

- उत्तरवैदिक काल में परीक्षित के वंशज जनमेजय का वर्णन आता है, जिसने आसन्दीवन में अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया था।
- शुङ्ग वंश के प्रथम एवं संस्थापक शासक पुष्यमित्र शुङ्ग ने अपने साम्राज्य को सुस्थिर करने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया था एवं यज्ञ की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया।
- अयोध्या अभिलेख मे पुष्यमित्र को दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला कहा गया है।
- मालविकाग्निमित्र में भी पुष्यमित्र के द्वारा किए जाने वाले अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है।
- रघुवंश में राजा दिलीप के द्वारा निन्यानवे अश्वमेध पूर्ण किए जाने

तथा सौवें अश्वमेध किए जाने की योजना का उल्लेख मिलता है-

अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः। ३.३८

- एक राजसूय तथा दो अश्वमेध करने वाला गौतमि पुत्र शातकर्णी शुङ्ग वंश का समकालीन सातवाहन राजा था।
- कनिष्क की शासनावधि के चौबीसवें वर्ष में अङ्कित मथुरा के निकट ईशापुर ग्राम से प्राप्त अभिलेख में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण रुदिल के पुत्र द्रोणिल ने ९२ रात्रि तक चलने वाला यज्ञ सम्पन्न किया था। एक अन्य यूप स्तम्भ लेख में सप्त सोम यज्ञ से सम्बन्धित सात यूपों के निर्माण का उल्लेख है।
- उदयपुर के ही समीप भंदासा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में ६० दिन तक चलने वाले यज्ञ का उल्लेख है।
- इसी प्रकार कोटा के निकट बड़वा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में त्रिरात्र यज्ञ सम्पन्न किए जाने का उल्लेख है।
- नयनिका के नाना घाट अभिलेख से दशरात्र यज्ञ किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।
- भारशिवों ने गङ्गा के तट पर दशाश्वमेध घाट पर दस अश्वमेध यज्ञ किया था।
- समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ किया था।
- इस यज्ञ की स्मृति में प्रचलित मुद्राओं में एक तरफ यज्ञ स्तम्भ में बांधे घोड़े का चित्र है तथा दूसरी तरफ अश्वमेध यज्ञ क्रम अङ्कित है।
- कुमार गुप्त ने भी अपने पितामह की तरह अश्वमेध यज्ञ किया था।

इसको प्रमाणित करता एक सिक्का मिला है, जिसमें अश्वमेध महेन्द्र लिखा है।

- महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में यज्ञ के धुएं से पवित्र होने का उल्लेख मिलता है।
- हर्षचरित में यज्ञों का वर्णन आया है तथा उनसे उठते हुए धुएं का उल्लेख है। थानेश्वर का उल्लेख करते हुए बाण लिखता है कि इसकी दशों दिशाएँ यज्ञों की सहस्रों ज्वालाओं से देदीप्यमान रहती हैं।
- दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में हिरण्यगर्भ यज्ञ किया।

यज्ञ का प्रयोजन

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इस शास्त्रीय आभाणक के आधार पर यह अन्वेषण का विषय बन जाता है कि हमारी सनातन संस्कृति में यज्ञ का प्रयोजन क्या है? इसे इस रूप में समझना चाहिए कि प्राचीन काल से ही यज्ञ केवल धार्मिक क्रिया के अङ्ग के रूप में ही मान्य नहीं था, अपितु इसके केन्द्र में पर्यावरण, पारिस्थितिकी सन्तुलन एवं नैरोग्य भी निहित था। चरक ने लिखा है कि- आरोग्य प्राप्त करने की इच्छा वालों को विधिवत् हवन करना चाहिए। बुद्धि शुद्ध करने की यज्ञ में अपूर्व शक्ति है। जिनका मस्तिष्क दुर्बल है या बुद्धि मलिन है, वे यदि यज्ञ करें तो उनकी मानसिक दुर्बलताएँ शीघ्र ही दुर्बल हो सकती हैं।

वेदों में ईश्वर से प्रार्थना की गई है- हे प्रभु हमारा जीवन यज्ञमय हो, जिससे हमारे अन्त:करण में **इदं न मम** की भावना का उदय हो। अथर्ववेद में कहा गया है - मैं मानव जीवन-रूपी यज्ञ में मन से हवन करता हूँ। यह मेरा जीवन-यज्ञ जगत् रचयिता प्रभु ने विस्तृत किया है,

इसमें सब देव, दिव्यभाव एवं प्रसन्नता से शामिल हों। मनुष्य जन्म और शरीर सभी योनियों में श्रेष्ठ बनाये रखूँ और इससे कभी भी दूषित कर्म न होने दूँ।

मनुस्मृति पञ्चमहायज्ञों के सम्यक् पालन पर जोर देती है। इन पञ्चमहायज्ञों को सम्यक् रीति से पालन करने में ही जीवन-मुक्ति और जीवनोद्देश्य निहित है। अग्निहोत्र करते समय आहुति देते हैं तो मन में त्याग की भावना होती है और यह कामना भी होती है कि जिस तरह इस हवनकुण्ड की लौ से और इससे निकलने वाले सुगन्ध से पूरा वातावरण शुद्ध और पवित्र हो रहा है, उसी तरह व्यक्ति का जीवन भी निरन्तर ऊर्ध्वगामी और पवित्र बने और इसी में मनुष्य के जन्म ग्रहण की सार्थकता है।

ध्यातव्य है कि जिस प्रकार से हमारी परम्परा और साहित्य में यज्ञानुष्ठानों का उल्लेख मिलता है, यदि उनकी प्रतीकात्मकता को समझा जाए तो इन सारे यज्ञों में आत्म-यज्ञ सर्वोपरि है। आत्म-यज्ञ से ही आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है और इस आत्म-ज्ञान की सफलता तभी सम्भव है, जब हम आत्म परिष्कार के लिए सन्नद्ध हों। आत्मपरिष्कार मानसिक, वाचिक और कर्मगत उत्पन्न होने वाले विकास को दूर किए बिना नहीं हो सकता है और इन विकारों को दूर करने के लिए ही आत्मयज्ञ किया जाता है।

उपसंहार

मानव की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शान्ति के लिए प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अनेक विधानों की व्यवस्था की थी, जिनका पालन करते हुए मानव अपनी आत्मशुद्धि, आत्मबल-वृद्धि और आरोग्य

की रक्षा कर सकता है, इन्हीं विधि-विधानों में से एक है यज्ञ। वैदिक विधान से हवन, पूजन, मन्त्रोच्चारण से युक्त, लोकहित के विचार से की गई पूजा को ही यज्ञ कहते हैं।

उदारता, पवित्रता और सहकारिता की त्रिवेणी पर केन्द्रित है। यही तीन तथ्य ऐसे हैं, जो इस विश्व को सुखद, सुन्दर और समुन्नत बनाते हैं। ग्रह नक्षत्र पारस्परिक आकर्षण में बंधे हुए ही नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे का महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान भी करते रहते हैं। यह यज्ञीय परम्परा है, जिसके कारण जड़ और चेतन वर्ग के दोनों ही पक्ष अपना सुव्यवस्थित रूप बनाए हुए हैं। इसी से यज्ञतत्त्व को विश्वनाभि की धुरी कहा गया है।

त्रिकाः

प्रो. रामनारायण शास्त्री[1]

॥ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये ॥

इस यजुष् को आधार बनाकर हम ऋग्यजुःसाम; वाक्मनःप्राण इन दो त्रिकों को इनके परस्पर सम्बन्ध को तथा इनसे सम्बद्ध अन्य त्रिकों को समझने के लिए प्रयत्नशील हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ ब्रह्म के व्याख्यान हैं **''ब्रह्मणो व्याख्यानम् ब्राह्मणम्''**[2]। आरण्यकग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं। ब्रह्म का अर्थ है परमपिता परमेश्वर, देवों का देव महादेव और उसका काव्य। ''**द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति**''[3]। **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपम् मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च**[4]। **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**[5]। **वेदो ब्रह्म**[6]। **ब्रह्म वै मन्त्रः**[7]। **ब्रह्म**

---

[1] **राजकीयस्नातकोत्तरमहाविद्यालयः, सिरोही**

[2] अष्टाध्यायीसूत्रपाठ. ४.३.६६

[3] महाभारत. शान्तिपर्व ३१.६३

[4] मा.श.ब्रा.१४.५.३.१। का.श.ब्रा.१७.२.३.१। बृ.उप.२.३.१

[5] अथर्ववेद.१०.८.३२

[6] जै. उपनिषद्ब्रा.४.११.४.३

[7] (क) मा.श.ब्रा. ७.१.१.५

ब्रह्माऽभवत् स्वयम्[८]। प्रभु का यह काव्य दृश्य और श्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। दृश्यकाव्य यह सम्पूर्ण चराचर संसार है और श्रव्यकाव्य है- वेद = ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। दृश्यकाव्य पुनः पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के रूप में दो प्रकार का है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों ही प्रायः समान हैं, इस समानता को अध्यात्मम् अधिदैवतम् कहकर ब्राह्मण और आरण्यकग्रन्थों में दर्शाया = समझाया गया है।

इस ब्रह्माण्ड में भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् एवं अन्य नामों से अभिहित सात लोक प्रसिद्ध हैं। पिण्ड में भी शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पाद और मूर्धा ये सात लोक या स्थान प्रसिद्ध हैं[९]। यथा च ब्रह्मयज्ञीय (सन्ध्या के) मार्जन और प्राणायाम मन्त्रों से ज्ञात है। **अथ मार्जनमन्त्रः - ओ३म् भूः पुनातु शिरसि। ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे। ओ३म् महः पुनातु हृदये। ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्। ओ३म् तपः पुनातु पादयोः। ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥ अथ प्राणायाम मन्त्रः - ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः। ओ३म् महः। ओ३म् जनः।ओ३म् तपः। ओ३म् सत्यम्।**[१०] पर ब्रह्माण्ड के तीन लोक तो इतने प्रसिद्ध हैं कि प्रत्येक

(ख) जैमिनीयब्राह्मण. १.८८

[८] तै.ब्रा.३.१२.९.३

[९] उपोदको नाम लोको यस्मिन्नयमग्निः ऋतधाम यस्मिन्वायुः अपराजितोयस्मिन्नादित्यः अभिद्युर्यस्मिन् वरुणः प्रद्युर्यस्मिन्मृत्यूरोचनो यस्मिन्नशया विष्टपएव सप्तमो ब्रह्मलोकाक यस्मिन्नेतद् ब्रह्म। जै.ब्रा.१.३३४।

स यद् भूर्भुवःस्वरिति व्याहरत् त एवेमे त्रयो लोका अभवन् अधिदिवःप्रदिवोरोचनः। विष्टपएवसप्तमो ब्रह्म लोको यस्मिन्नेतत्सत्यं भाति। जै.ब्रा.३.३८४। तु.३.८०

[१०] संस्कारविधिः गृहस्थ. ब्रह्मयज्ञ

मानव उनका अनुभव करता है, प्रयोग करता है, देखता है और जानता भी है। ये तीन लोक हैं- पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोक। प्रत्येक व्यक्ति इन लोकों से इस भाँति परिचित है कि इनके कारण ही उसका अस्तित्व है, सत्ता है, जीवन है। यथा पृथिवीलोक- जिस पर मानव तथा अन्य प्राणी रहते हैं और इस पर उत्पन्न पदार्थों का = अन्न, फल, शाक आदि का भरपूर उपयोग करते हैं। अन्तरिक्षलोक- जिसमें रहते हैं, खुला= स्वच्छन्द श्वास-प्रश्वास करते हैं और विचरण करते हैं। द्युलोक- जहाँ से प्रकाश पाते हैं अर्थात् प्रकाशपुञ्ज सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र जहाँ रहते हैं। इन तीनों लोकों की पिण्ड= शरीर के वाक्= वाणी, मन तथा प्राण के साथ समानता को ''**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**'' सिद्धान्त के साथ समझाया गया है।

अब आगे की चर्चा अन्न से प्रारम्भ होने वाली है अतः अन्न के विषय में हम कुछ निवेदन कर रहे हैं; जिससे कि आगे वाला तथ्य सरलता से समझा जा सके। अन्नशब्द भक्षण अर्थवाले अद् (**अद् भक्षणे**) धातु से क्त प्रत्यय करने पर बनता है।[११] ''**अद्यतेऽत्ति च भूतानि, तस्मादन्नं तदुच्यते**''[१२]। जिसको हम सब प्राणी, और प्राणी ही क्या? भूतमात्र खाते हैं तथा जो भूतों को खाता है उसे अन्न कहते हैं। शरीर के प्रत्येक अवयव को स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रखना ही अन्न का प्रयोजन है। इस आधार पर अन्नशब्द प्राणन (जीवन) अर्थवाले अन (अन च) धातु से औणादिक न प्रत्यय से बनता है।[१३] ''**अनिति**

---

[११] धातुपाठ.२.१। अष्टाध्यायीसूत्रपाठ.३.२.१०२। १.१.२५ तथा ३.४.६७

[१२] तै.आ.८.२। तैत्तिरीयोपनिशद्.२.२

[१३] धातुपाठ.२.६३। उणादिसूत्रपाठ.३.१०

जीवयतीति अन्नम्, ओदनादिकं वा''।

मुख से हम सब अन्न खाते हैं, अन्न का प्रयोग करते हैं; यह हम सभी जानते हैं। जब अन्न का प्रयोजन स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रखना ही है तो केवल मुँह से प्रयोग करने मात्र से यह सम्भव नहीं। कभी हम बोलकर प्रसन्न होते हैं कभी सुनकर स्वस्थ प्रसन्न रहते हैं कभी देखकर इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि हम आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि आदि बाह्य और अन्तःकरण से जिसका प्रयोग स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रहने के लिए करते हैं, वह सब अन्न है, साथ ही क्योंकि अन प्राणने धातु से अन्न शब्द बना है इसलिए प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये सब भी अन्न ही हैं; इसीलिए वैदिक वाङ्मय अन्न के अनेक प्रकार व नाम गिनाता है। यथा- **त्रेधा विहितं वा इदमन्नमशनं पानं स्वादः**[१४]**। त्रिवृद्वा अन्नं कृषिर्वृष्टिर्बीजम्**[१५]**। त्रिवृद्ध्यन्नम्**[१६]**। अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः, अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाह। अन्नं ब्रह्मणो जरसं वदन्ति, अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम्**[१७]**। अन्नं प्राणः**[१८]**। अन्न हि प्राणः**[१९]**। अन्नमेव ग्रहः, अन्नेन हीदं सर्वम् गृहीतम्।**[२०] **तस्मात्प्राणोऽन्नेन गृहीतो यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति**[२१]**। तस्मात्प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमत्ति**[२२]**। अन्नं**

---

[१४] ऐ.आ.२.३.४। तु.मा.श.ब्रा.८.५.३.३

[१५] मा.श.ब्रा.८.६.२.२

[१६] मा.श.ब्रा.३.२.१.१२

[१७] तै.ब्रा.२.८.८.३

[१८] तै.ब्रा. ३.२.३.४

[१९] मा.श.ब्रा.३.८.४.८। ४.३.४.२५

[२०] मा.श.ब्रा.४.६.५.४

[२१] मा.श.ब्रा.७.५.१.१६

वै सर्वेषां भूतानामात्मा[२३] **। अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः**[२४] **।** ''जैसा खाओ अन्न वैसा होगा मन, जैसा पीओ पानी वैसी होगी वाणी'' यह लोक कहावत भी प्रसिद्ध है, जो शास्त्राधृत ही है।

''**त्रीण्यात्मनेऽकुरुत**'' इस वाक्य को समझाते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है - यह जो कहा कि तीन अन्न अपने लिए रचे हैं, बनाये हैं; वे तीन अन्न मन, वाणी और प्राण हैं। पूर्व में चार अन्नों पर विचार हो चुका है, वे हैं - अन्न, हुत, प्रहुत तथा पयः। ये चार अपने से बाहर के अन्न हैं। मन, वाणी, प्राण - ये अपने अन्दर के अन्न हैं। जब हम कहते हैं, मेरा मन दूसरी जगह था इसलिए मैंने नहीं देखा, मन दूसरी जगह था इसलिए नहीं सुना, तब हम दूसरे शब्दों में यही कह रहे होते हैं कि मन ही देखता है, मन ही सुनता है। काम, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय - ये सब मन के ही स्वरूप हैं; अगर कोई पीठ पीछे से हमें छुए तो मन से ही हम पहचान लेते हैं। यह सब मन का दिया हुआ अन्न ही तो है, मन हमें कितना भोजन दे रहा है? मन में जो अमूर्त होता है, उसे वाणी शब्दों द्वारा मूर्त बना देती है - वाणी ही शब्दों की रचना करती है। कितनी छोटी-सी वाणी है मानो कुछ है ही नहीं, परन्तु संसार के अन्तिम छोर तक का पता देती है। कितना अन्न अर्थात् भोजन दे रही है? अब रहा प्राण। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये सब प्राण ही के रूप हैं। ये सब भोजन प्राण से मिल रहा है। इसलिए यह शरीर एतन्मय है अर्थात् वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है। ''**त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो**

---

[२२] मा.श.ब्रा.७.५.१.१७

[२३] गो.ब्रा.२.१.३

[२४] तैत्तिरीयसंहिता ३.४.५.१

वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽ कुरुतान्यत्रमना अभूवन्नादर्शमन्यत्रमना अभूवन्नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति, कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वम् मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत् ता एषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वम् प्राण एव एतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मय मनोमयः प्राणमयः''[२५]**।**

वाक्, मन, प्राण का महत्त्व महान् है। पिण्ड के ये तीनों ब्रह्मा की त्रिलोकी में विराजमान हैं। यह पृथिवी लोक वाणी का लोक है; अन्तरिक्ष लोक मन का लोक है; द्युलोक प्राण का लोक है। जैसे वाणी सब अर्थों को प्रकट करती है, अभिव्यक्त करती है, वैसे पृथिवी सब पदार्थों को प्रकट करती है, उत्पन्न करती है। जैसे मन वाणी को थामे हुए है, वैसे अन्तरिक्ष पृथिवी को थामे हुए है। जैसे प्राण मन, वाणी को जीवित रखता है, वैसे द्युलोक अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को प्रकाशित करता है। ''**त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरि क्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः**''[२६]। तीनों वेद भी मानो वाक्, मन, प्राण ही हैं। वाणी ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है। ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड का प्रतिनिधि है, वाणी ज्ञान का रूप है, सरस्वती है। वाक् सरस्वती। **वागेव सरस्वती।** यजुर्वेद कर्मकाण्ड का प्रतिनिधि है, मन द्वारा ही सारा कर्म हो रहा है। **यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते**। सामवेद स्तुति, उपासनाकाण्ड का प्रतिनिधि है, प्राण द्वारा ही सामगान हो रहा है स्तुति, उपासना हो रही है। **प्राणैः साम गीयते।**

---

[२५] का.श.ब्रा.१७.१.५.३। मा.श.ब्रा.१४.४.३.८। बृह.१.५.३

[२६] का.श.ब्रा.१७.१.५.४। मा.श.ब्रा.१४.४.३.११। बृह.१.५.४

“**त्रयो वेदा एत एव वागेवग्रदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः**”[२७]।

पिण्ड के वाक् मन प्राण ही ब्रह्माण्ड के देव पितर मनुष्य हैं। वाणी ही देव हैं, मन पितर हैं, प्राण मनुष्य हैं। वाणी शरीर का प्रकाश है, शरीर को प्रकाशित करती है। देवगण भी ब्रह्माण्ड में, मानव समाज में बिना बोले ही अपने गुणों से बोल उठते हैं, गुणों का प्रकाश फैला देते हैं, गुणों से मानव समाज को प्रकाशित कर देते हैं। शरीर की सभी इन्द्रियाँ मन में रक्षा पाती हैं, मन में सुरक्षित रहती हैं। मन के स्वस्थ प्रसन्न रहने पर शरीर की सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ प्रसन्न रहती हैं। मन के बिगड़ते ही सारी इन्द्रियाँ बिगड़ जाती हैं। पितर भी मनुष्य समाज के मन की भाँति ही रक्षक हैं। प्राण शरीर का सारा काम चलाता है अर्थात् प्राण के कारण ही शरीर का सारा कार्य सुचारु चलता है; ऐसे ही मनुष्य अर्थात् साधारण लोग ही मानव समाज का सारा काम करते हैं। प्राण के बिना जैसे शरीर बेकार है, वैसे ही जन साधारण के बिना मानव समाज भी बेकार है। “**देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः**”[२८]। पिण्ड के मन वाणी और प्राण ही इस ब्रह्माण्ड में, मानव समाज में पिता माता और प्रजा हैं, मन ही पिता है, वाणी माता है, प्राण प्रजा है, सन्तान के समान है, इसलिए माता-पिता को सन्तान प्राणों की तरह ही नहीं, अपितु प्राणों से भी प्रिय होती है। “**पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा**”[२९]। वाणी को माता, प्राण को पुत्र, मन को पिता आरण्यकग्रन्थ में भी कहा है “**वाग्वै माता प्राणः पुत्रो मनः पिता**”[३०]।

---

[२७] का.श.ब्रा.१७.१.५.५। मा.श.ब्रा.१४.४.३.१२। बृ.१.५.५

[२८] का.श.ब्रा.१७.१.५.६। मा.श.ब्रा.१४.४.३.१३। बृ.१.५.६

[२९] का.श.ब्रा.१७.१.५.७। मा.श.ब्रा.१४.४.३.१४। बृ.१.५.७

[३०] ऐ.आ.३.१.६

शतपथ ब्राह्मण जिन तीन वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) को वाक्, मन, प्राण कहता है, अन्यत्र इन तीन वेदों को त्रयीविद्या भी कहता है- **त्रयी वै विद्या, ऋचो यजूँषि सामानि**[३१]। त्रयीविद्या के नाम से शतपथ ब्राह्मण जहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को कह रहा है, वहीं सामवेदीय जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण त्रयीविद्या के नाम से **भूः भुवः स्वः** इन तीन लोकों अथवा व्याहृतियों को कहता है - **भूर्भुवः स्वरिति सा त्रयीविद्या**[३२]। भूर्भुवः, स्वः, शुक्र, व्याहृति अथवा लोक; पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इन सबको एक साथ एकत्र= इकट्ठे ही सामवेदीय षड्विंशब्राह्मण इस प्रकार कहता है - **भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयं लोकोऽभवत्। अयं (भूः=पृथिवी) लोक ऋग्वेदः। भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत् सोऽन्तरिक्षलोकोऽ भवत्। अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः। स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स स्वर्गलोकोऽभवत् स्वर्गोलोकः सामवेदः**[३३]। यहाँ पर इन त्रिकों का; भूर्भुवःस्वः; पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद; का परस्पर सुस्पष्ट शब्दों में सम्बन्ध दर्शाया गया है।

वाक् को अग्नि, मन को वायु, प्राण को सूर्य (आदित्य) अथवा विपरीत क्रम से अग्नि को वाक्, वायु को मन, सूर्य को प्राण वैदिकसाहित्य में अन्यत्र भी कहा गया है- **वागेवाग्निः**[३४]। **या वाक् सोऽग्निः**[३५]। **वाग् वा अग्निः**[३६]। **अग्निर्वै वाक्**[३७]। **अग्निर्मे वाचि श्रितः**[३८]। **मनो ह वायुर्भूत्वा**

---

[३१] मा.श.ब्रा.४.६.७.१

[३२] जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण.२.३.३.७

[३३] षड्विंशब्राह्मण.१.५

[३४] मा.श.ब्रा.३.२.२.१३

[३५] गोपथब्राह्मण.२.४.११

[३६] मा.श.ब्रा.६.१.२.१८

दक्षिणतस्तस्थौ[३९]**। न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति तस्माद् वातो वा मनो वेति**[४०]**। उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्रणयति तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते**[४१]**। तदसौ वा आदित्यः प्राणः**[४२]**। प्राण आदित्यः**[४३]**। प्राणा वा आदित्याः। प्राणा हीदं सर्वमाददते**[४४]**।** वाक् को ऋक्, मन को यजुः, प्राण को साम अथवा ऋक् को वाक्, यजुः को मन, साम को प्राण भी अनेकत्र कहा गया है- **या सा वागृक् सा**[४५]**। वागेवर्क्**[४६]**। मन एव यजूँषि**[४७]**। मनो वै यजुः**[४८]**। प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि**[४९]**। प्राणा वै सामानि**[५०]**।** तैत्तिरीयारण्यक में भूर्भुवः स्वः (सुवः) को तीन व्याहृति बताते हुए भूः को पृथिवीलोक, भुवः को अन्तरक्षलोक, सुवः को द्युलोक और भू को अग्नि, भुवः को वायु तथा स्वः को आदित्य कहा है- **भूर्भुवःसुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः।**

---

[३७] जैमिनीयब्राह्मण.२.५४

[३८] तै.ब्रा.३.१०.८.४

[३९] मा.श.ब्रा.८.१.१.७

[४०] मा.श.ब्रा.५.१.४.८

[४१] ऐ.ब्रा.५.५.६

[४२] तै.सं.५.२.५.४। जै.उ.ब्रा.४.११.१.९

[४३] ता.ब्रा.१६.१३.२

[४४] जै.उ.ब्रा.४.२.१.९

[४५] जै.उ.ब्रा.१.८.१.८।

[४६] जै.ब्रा.२.३९

[४७] मा.श.ब्रा.४.६.७.५

[४८] मा.श.ब्रा.७.३.१.४०

[४९] मा.श.ब्रा.१४.८.१४.३। का.श.ब्रा.१७.५.१३.३। बृ.५.१३.३

[५०] मा.श.ब्रा.९.१.२.३२

सुवरित्यादित्यः[५१] **।**

अध्यात्म= पिण्ड= शरीर में जो त्रिक वाक्, मन, प्राण हैं, वही त्रिक ब्रह्माण्ड में पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, द्युलोक हैं। अग्निदेव वायु या इन्द्रदेव सूर्यदेव है। अधिविद्य=विद्या या ज्ञान में ऋग्, यजुः, साम और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद हैं अधिसमाज में देव, पितर, मनुष्य हैं माता, पिता, प्रजा= सन्तान हैं।

निरुक्तकार यास्क इस त्रिक को देव और लोक या स्थान का सम्बन्ध स्थापित करते हुए समझा रहे हैं। उनका कहना है कि तीन ही देव हैं अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य। अग्नि पृथिवीस्थानीय अर्थात् पृथिवी का देव है। वायु या इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय यानि अन्तरिक्षलोक का देव है। सूर्य द्युस्थानीय अर्थात् द्युलोक का देव है- **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः**[५२] **।** ब्राह्मणग्रन्थ भी तीन ही देव मानते हैं, वे तीन देव हैं - वसु, रुद्र, आदित्य। ये तीनों देव गण= समूह के रूप में हैं अतः इनका प्रयोग सदा बहुवचन में ही होता है। **त्रयो वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः**[५३] **। एते वै त्रयो देवा यद् वसवो रुद्रा आदित्याः**[५४] **।** देवों का प्रत्येक कार्य यज्ञपूर्वक होता है, यज्ञपरक होता है, आहोस्वित् यज्ञ ही होता है। वैदिक वाङ्मय में यज्ञ समय को सवन कहा गया है। देव तीन हैं; तीनों का जैसे कार्यस्थल= यज्ञस्थान निश्चित है, वैसे ही यज्ञ समय= सवन भी निश्चित है, उसे प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीय सवन कहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ को

---

[५१] तैत्तिरीयारण्यक.७.५.१व२। तै.उपनिषद्.१.५.१व२

[५२] निरुक्त ७.२.१

[५३] मा.श.ब्रा.४.३.५.१। का.श.ब्रा.५.४.२.१

[५४] मा.श.ब्रा.१.३.४.१२। १.५.१.१७। १.८.३.८

विष्णु कहते हैं- **यज्ञो वै विष्णुः**[५५]**। यज्ञो विष्णुः**[५६]**। विष्णुर्वै यज्ञः**[५७]**। विष्णुर्यज्ञः**[५८]**। यो वै विष्णुः स यज्ञः**[५९]**। यः स विष्णुर्यज्ञः सः**[६०]। जब यज्ञरूप विष्णु का देवों के लिए समय निश्चित किया गया तो वसु प्रातःसवन रुद्र माध्यन्दिनसवन और आदित्य तृतीयसवन के साथ सम्बद्ध हो गये। **अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यन्दिनं सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्**[६१]**। वसवो रुद्रा आदित्याः तेषां विभक्तानि सवनानि वसूनामेव प्रातःसवनं रुद्राणाम्माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां तृतीयसवनम् तद् वा अमिश्रमेव वसूनाम् प्रातःसवनम-मिश्रं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनं मिश्रमादित्यानां तृतीयसवनम्**[६२]**। वसूनां वै प्रातःसवनं रुद्राणाम्माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां तृतीयसवनम्**[६३]**।** अग्नि इन्द्र और सूर्य अथवा शेष विश्वेदेवों की दृष्टि से अग्नि का प्रातःसवन है इन्द्र का माध्यन्दिनसवन है, विश्वेदेवों का तृतीयसवन है। विश्वेदेव भी गण में रहने के कारण सर्वदा बहुवचन में ही प्रयोग होते हैं। **अग्नेः प्रातः-सवनमासीदिन्द्रस्य माध्यन्दिनं सवनं विश्वेषां देवानां तृतीयसवनम्**[६४]**।**

---

[५५] मा.श.ब्रा.१३.१.८.८। १.१.२.१३। का.श.ब्रा.२.१.२.११। तै.ब्रा.१.२.५.१। कौ.ब्रा.४.२। १८.८व१४। ता.ब्रा.६.९.१०

[५६] गो.ब्रा.२.६.७। ता.ब्रा.१३.३.२

[५७] ऐ.ब्रा.१.३.४

[५८] तै.ब्रा.३.३.७.६। गो.ब्रा.२.१.१२।

[५९] मा.श.ब्रा.५.२.३.६

[६०] मा.श.ब्रा.१४.१.१.६

[६१] मा.श.ब्रा.१४.१.१.१५

[६२] मा.श.ब्रा. ४.३.५.१। का.श.ब्रा.५.४.२.१

[६३] शां.ब्रा. १६.१। ३०.१

[६४] कौ.ब्रा. १४.५

अग्नि वसुओं का प्रतिनिधि है, पृथिवीलोक का देव है; अग्नि तथा वसुओं का प्रातःसवन है। इन्द्र रुद्रों का प्रतिनिधि है, अन्तरिक्षलोक का देव है; इन्द्र और रुद्रों का माध्यन्दिनसवन है। सूर्य आदित्यों का, विश्वदेवों का प्रतिनिधि है, द्युलोक का देव है; आदित्यों का विश्वेदेवों का तृतीयसवन है। एतावता पृथिवीलोक प्रातःसवन है, अन्तरिक्षलोक माध्यन्दिनसवन है, द्यौलोक तृतीयसवन है - **अयं वै लोकः प्रातःसवनम्। अन्तरिक्षं वै माध्यन्दिनं सवनम्। द्यौर्वै तृतीयसवनम्** [६५]।

हमने यहाँ तक वैदिकवाङ्मय के सिंहावलोकन से यह देखा और पाया कि पिण्ड= शरीर में रहने वाला वाक् मन प्राण का छोटा सा त्रिक ब्रह्माण्ड में आकर ब्रह्माण्ड की भाँति इतना विशाल हो जाता है मानो इसकी प्रत्येक इकाई अनन्त हो गई हो। यहाँ तक वाक् को पृथिवीलोक, ऋग्वेद, अग्निदेव, भूव्याहृति, देव, माता कहा है; इसी प्रकार मन को अन्तरिक्षलोक, यजुर्वेद, वायुदेव, भुवव्याहृति, पितर, पिता तथा प्राण को द्युलोक, सामवेद, सूर्यदेव, मानव, प्रजा कहा है; यह समझा जाना है।

वाक्= वाणी का व्यापार= क्रिया श्रम कहलाता है, मन की क्रिया या व्यापार को काम कहा जाता है और प्राण के व्यापार को तप कहते हैं। प्रजापति ने अर्थात् परमपिता परमात्मा की प्रजापालनरूपशक्ति ने स्वयं के सदुपयोग के लिए, स्वयं की सफलता के लिए इन तीनों क्रियाओं को एक साथ किया; जैसा कि शतपथब्राह्मण कहता है - **सोऽकामयत सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत**[६६]। इन तीनों क्रियाओं के परिणामस्वरूप पृथिव्यादि लोकत्रय, अग्न्यादिदेवत्रय आहोस्विद् अग्नि आदि तीनों ज्योति,

---

[६५] मा.श.ब्रा. १२.८.२.८ से १० तक

[६६] मा.श.ब्रा.६.१.६.१२। ११.५.८.१। तु.का.श.ब्रा.८.१.१.९

ऋग्वेदादि वेदत्रय, भूरादि तीनों व्याहृतियाँ अथवा शुक्रों और फिर अन्त में अकारदि तीन (अकार, उकार, मकार) अक्षरों का निर्माण हुआ। इन्हीं तीनों अक्षरों का समाहार ''ओ३म्'' है। इसलिए सब ओ३म् का ही स्तवन करते हैं स्तुति करते हैं; ओ३म् ही स्वर्गलोक है। इस तथ्य को शतपथ और ऐतरेयब्राह्मण अपनी-अपनी भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। यथा –

''प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीद् एक एव। सोऽकामयत स्याम् प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात् तेपानात् त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षन्द्यौः। स इमाँस्त्रीलँ्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीं ष्यजायन्ताग्निर्योऽयम्पवते सूर्यः। स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर् ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। स इमाँस्त्रीन् वेदानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद् भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात् तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रन्तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम''[६७]। ''प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्त्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षन्दिवम्। तान् लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजा यन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतीँष्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितन्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्। तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राणि अजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत

[६७] मा.श.ब्रा.११.५.८.१ से ४

भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्ते भ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्तअकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत् तदेतदो३मिति, तस्मादोमिति प्रणौति ओ३मिति वै स्वर्गो लोकः''[६८]**।**

वाक् मन प्राण ही ज्ञात ज्ञेय अज्ञात हैं। जैसा कि हमने पहले कहा वाणी ज्ञानवती है। जो विज्ञात है, जाना जा चुका है वह वाणी का ही रूप है, वाणी में आ गया है, वाणी का विषय बन गया है। ज्ञान जबतक वाणी में नहीं आता तबतक अस्पष्ट रहता है। जब वाणी में आ जाता है तब हम ज्ञान को वाणी से प्रकट कर देते हैं तब उसकी सुरक्षा हो जाती है इस प्रकार वाणी ज्ञानरूप होकर हमारी, मनुष्य की सुरक्षा करती है। अतः वाक् ही विज्ञात है विज्ञात ही वाक् है। ''**विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं भूत्वाऽवति'**[६९]**।** जो विजिज्ञास्य है अभी जाना नहीं गया पर, जाना जा सकता है, ज्ञेय है, जानने योग्य है वह मन का ही रूप है, मन ही तो विज्ञेय पदार्थों से भरा हुआ है। मन जिस पदार्थ या तत्व पर जम जाय, वह पदार्थ-तत्व ज्ञेय कोटि में आ जाता है, अतः मन संसार को ज्ञेय कोटि में लाकर मनुष्य की रक्षा करता है। ''**यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद् भूत्वाऽवति'**[७०]**।** जो अविज्ञात है, जाना नहीं गया है, अज्ञेय है वह प्राण का ही रूप है। प्राण अविज्ञात है, जाना नहीं जाता कि यह क्या है? कहाँ है? प्राण मनुष्य की बिना जाने अविज्ञातभाव से रक्षा करता

---

[६८] ऐ.ब्रा.५.५.७

[६९] मा.श.ब्रा.१४.४.३.१५। का.श.ब्रा.१७.१.५.८। बृह.१.५.८

[७०] मा.श.ब्रा.१४.४.३.१६। का.श.ब्रा.१७.१.५.९। बृ.१.५.९

है। एक अकेला ही प्राण सभी अङ्गों की रक्षा करता है।

''**यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद् भूत्वाऽवति**''[७१]**। एकः प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यवति**[७२]**।**

पिण्ड= शरीर में जैसे वाणी है, ब्रह्माण्ड में वैसे ही पृथिवी है। पिण्ड में जैसे जीवन की उष्णता है वैसे ही ब्रह्माण्ड में ज्योतिरूप अग्नि है। पिण्ड में वाणी के विस्तार के समान ही ब्रह्माण्ड में पृथिवी का विस्तार है। वाणी शरीर की कहानी कहती है, पृथिवी ब्रह्माण्ड की कहानी कहती है। जितनी विशाल वाणी है उतनी ही विशाल पृथिवी है, पृथिवी में रहने वाली अग्नि है। शरीर की यह छोटी सी वाणी ब्रह्माण्ड में पृथिवी व अग्नि जैसी विशाल हो जाती है।'' **तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद् यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः**''[७३]**।** पिण्ड में जैसे मन है ब्रह्माण्ड में वैसे ही द्यौ है। शरीर में जिस प्रकार जीवन की उष्णता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में ज्योतिरूप आदित्य है। शरीर में मन का विस्तार ब्रह्माण्ड में द्युलाक के विस्तार के समान है। मन शरीर की कहानी कहता है द्युलोक ब्रह्माण्ड की कहानी कहता है। जितना विशाल मन है उतना ही विशाल द्यौ है उतना ही विशाल द्युलोक का आदित्य है। यह तथ्य पहले आ चुका है कि वाणी माता है मन पिता है प्राण प्रजा है। जैसे माता पिता के संयोग से सन्तान जन्मती है वैसे ही मन और वाणी के मेल से प्राण प्रकट हुआ है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार पृथिवी की अग्नि और द्युलोक के सूर्य के मेल से, इन दोनों की गर्मी से वायु प्रकट होता है। पिण्ड में जिसको प्राण कहते हैं

---

[७१] मा.श.ब्रा.१४.४.३.१७। का.श.ब्रा.१७.१.५.१०। बृ.१.५.१०

[७२] तैत्तिरीयसंहिता ७.५.८.५

[७३] मा.श.ब्रा.१४.४.३.१८। का.श.ब्रा.१७.१.५.११। बृ.१.५.११

ब्रह्माण्ड में उसी को वायु या इन्द्र कहते हैं। यह प्राण और वायु या इन्द्र असपत्न हैं, शत्रु रहित हैं। सपत्न का अर्थ है बराबरी का, मुकाबले का। जैसे शरीर में प्राण की समानता वाला= सपत्न कोई नहीं; इसलिए प्राण असपत्न= शत्रु रहित है; वैसे ही ब्रह्माण्ड में वायु या इन्द्र का कोई सपत्न नहीं, बराबरी का कोई नहीं है। जो इस रहस्य को जान लेता है उसका भी काई सपत्न= शत्रु= बराबरी का नहीं होता वह असपत्न हो जाता है। ''**अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद् यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः, स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्ना भवति य एवं वेद**''[७४]।

पिण्ड= शरीर में जिस प्रकार प्राण है उसी प्रकार जल है। शरीर में जीवन की उष्णता की भाँति ब्रह्माण्ड में ज्योतिरूप चन्द्र है। शरीर में प्राण का विस्तार ब्रह्माण्ड के जल के विस्तार के सदृश है। प्राण पिण्ड की कहानी बोलता है जल ब्रह्माण्ड की कहानी बोलता है। ब्रह्माण्ड में जहाँ जल है वहीं जीवन है। शरीर में प्राण ही जीवन है। जितना विशाल प्राण है उतना ही विशाल जल है उतना ही विशाल चन्द्र है। इस प्रकार पिण्ड= शरीर के वाणी मन प्राण का त्रिक ब्रह्माण्ड के पृथिवी द्यौ जल तथा अग्नि आदित्य चन्द्र के त्रिकों के समान है। ये सभी त्रिक अनन्त हैं महान् हैं। इन सबको जो अन्तवान् समझकर इनकी उपासना करता है वह अन्तवान् लोकों पर विजय प्राप्त करता है; और जो इन्हें अनन्तवान् समझकर इनकी उपासना करता है वह अनन्तवान् लोकों पर विजय पा लेता है। ''**अथैतस्य प्राणस्य आपः शरीरं ज्यातीरूपमसौ चन्द्रस्तद् यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः**

[७४] मा.श.ब्रा.१४.४.३.१९। का.श.ब्रा.१७.१.५.१२। बृ.१.५.१२

सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति''[७५]**।**

प्राणी= जीवात्मा मृत्यु से धक्का पाकर जब शरीर से अलग होकर चलने लगता है, अथवा शरीर को छोड़कर इसमें से निकलने लगता है तब उसे शरीर से वियोग के कारण कष्ट और दुःख का अनुभव होने लगता है; परन्तु जीवात्मा संसार के यथार्थ और अपने उद्देश्य को समझकर स्वयं ही= अपने आप इस भोगायतन शरीर को, भोग और अपवर्ग के साधन शरीर को छोड़ता है, तब उसे शरीर के वियोग का दुःख नहीं होता क्योंकि उस समय यही वाक्= वाणी जो ब्रह्माण्ड के पृथिवी और अग्नि में समा रही है, वह इसमें आकर प्रवेश करती है इसी दैवी वाक् से निश्चिन्त होकर जो कुछ कहता है वही हो जाता है और उसे कष्ट व दुःख के स्थान पर सुख की प्रतीति= प्राप्ति होती है- **पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी यया यद्यदेव वदति तदेव भवति**[७६]**।** स्वयं ही इस शरीर को छोड़कर निकलने पर द्यु तथा आदित्य में जो दैव मन समा रहा है वह इसमें आकर प्रविष्ट हो जाता है। इस दैव मन को धारण कर उस समय इसके लिए आनन्द ही आनन्द होता है- **दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद् वै दैवं मनो येन आनन्द्येव भवत्यथो न शोचति**[७७]**।** इसी भाँति जीवात्मा और शरीर के उस वियोग के समय चन्द्र तथा जल में समा रहा दैव प्राण इसमें आकर प्रविष्ट हो जाता है। वह दैव प्राण जो चलता हुआ, न चलता हुआ कभी थकता नहीं है, कभी नष्ट नहीं होता। जीवात्मा उस दैव प्राण से युक्त हो जाता है। इस

---

[७५] मा.श.ब्रा.१४.४.३.२० व २१। का.श.ब्रा.१७.१.५.१३

[७६] मा.श.ब्रा.१४.४.३.२७। का.श.ब्रा.१७.१.५.१८

[७७] मा.श.ब्रा.१४.४.३.२८। का.शब्रा.१७.१.५.१९

रहस्य को जानने वाला सब भूतों का आत्मा हो जाता है, सबका अपना हो जाता है। जैसा यह दैव प्राण है वैसा ही वह हो जाता है। जैसे सब प्राण देव की रक्षा करते हैं, उसको चाहते हैं उसकी कामना करते हैं, उसको पाना चाहते हैं; वैसे ही सभी इस रहस्य वेत्ता की रक्षा करते हैं, इसको जानना, पाना चाहते हैं। इस कारण इस वियोग के समय यदि अन्य लोग उसके विषय में दुःखी होते हैं, तो वह दुःख उन लोगों तक ही सीमित रहता है, रहस्यवेत्ता को दुःख नहीं पहुँचता, उसे तो पुण्य ही पहुँचता है, वह देव बन गया है देवों को दुःखरूपी पाप का स्पर्श नहीं होता- **अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरँश्चासंचरँश्च न व्यथते न रिष्यति य एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवं स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्ति एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद् भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न वै देवान् पापं गच्छति**[७८]**।**

वाक् मन प्राण का त्रिक कितना छोटा है, कितना अन्त वाला है। पर यह पिण्ड=शरीर में ही छोटा व अन्तवाला है। यही त्रिक ब्रह्माण्ड में उसी की भाँति अनन्त और विशाल हो जाता है। इस प्रकार हमने अपने स्वाध्याय के आधार पर पिण्ड व ब्रह्माण्ड के एक त्रिक को समझने का प्रयत्न किया है।

---

[७८] मा.श.ब्रा.१४.४.३.२९। का.श.ब्रा.१७.१.५.२०

मीमांसा दर्शन का वाक्यशास्त्रीय स्वरूप

प्रो. योगेन्द्र कुमार भानु[१]

अथातो धर्म जिज्ञासा[२] मीमांसा दर्शन के इस प्रथम सूत्र द्वारा महर्षि जैमिनी ने धर्म का प्रतिपादन मीमांसा का प्रमुख प्रयोजन कहा है। वस्तुतः मीमांसा सूत्रों की रचना महर्षि जैमिनी ने उन परिस्थितियों में की, जब वेद के मंत्र-भाग एवं ब्राह्मण-भाग के भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन किया जाने लगा तथा उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का स्वरूप एवं उसके अर्थ के विषय में विद्वानों में अनेक मत-मतान्तर स्थापित हो गए थे। मीमांसा सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महर्षि जैमिनी से पूर्व आत्रेय, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि इत्यादि अनेक ऋषि थे।[३] जिन्होंने वेदार्थ सम्बंधी अपने मत प्रकट किए थे। श्लोकवार्तिककार ने इनका संक्षिप्त विवेचन करते हुए कहा है कि उस काल में कोई अंतःकरण वृत्ति विशेष को धर्म कहता था कोई पुद्गलाख्य परमाणुओं को धर्म कहता था तो कोई आत्मा के गुण विशेष को ही धर्म मानने लगा था कोई अपूर्व को ही धर्म मानता था किसी किसी के मत में चैत्यवंदन करना

---

[१] **आचार्य संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बसेड़ी, धौलपुर (राज.)**

[२] मीमांसा दर्शन १.१.१.

[३] मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास पृ. ९६-९७

ही धर्म था और कुछ आत्मदर्शन को ही धर्म मानते थे।[४] उस परिस्थिति में महर्षि जैमिनी ने वेद एवं वेदार्थ विषयक विभिन्न मतों में एकवाक्यता, सङ्गति एवं सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु मीमांसा सूत्रों का प्रणयन किया। उनके द्वारा प्रतिपादित यह धर्म चोदना प्रमाणक है, तथा चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है।[५] चोदना शब्द को स्पष्ट करते हुए शबर स्वामी ने लिखा है **"चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः"**[६] क्रिया के प्रवर्तक वचन को चोदना कहते हैं यह चोदना क्रिया में प्रवृत्ति के हेतु भूत रूप में विद्यमान रहती है जिसे हम वेद का विधि वाक्य कहते हैं वेद से प्रमाणित यह चोदना भूत भविष्य वर्तमान सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बताने में जितनी समर्थ है उतना सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं है स्वयं इंद्रियों में कि नहीं इस प्रकार महर्षि जैमिनी एवं भाष्यकार शबरस्वामी के मत में जिन कर्मों के द्वारा अलौकिक अनिष्ट व्यवहार किसी भी प्रकार नहीं स्थापित हो पाते तथा अलौकिक इष्ट व्यवहार एक व्यवस्थित रूप धारण करते हैं जिन्हें हम वैदिक वाक्यों के बिना नहीं समझ सकते हैं वह कर्म ही वेद के प्रतिपाद्य हैं और वे ही धर्म हैं।[७] मीमांसा मान्यता एवं धारणाओं पर आधारित दर्शन नहीं है। वह साक्षात कर्म पर आधारित दर्शन है। साक्षात कर्म के विधायक वेद वाक्यों की

---

[४] अन्तःकरण वृत्तौ वा वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्व जन्मनि॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः॥ श्लोकवार्तिक

[५] मी. सू. १.१.२०

[६] मी. सू. शाबर भाष्य १.१.२

[७] प्राभाकर नियोगवाक्यार्थवाद का विवेचनात्मक अध्ययन पृ. २६

सार्थकता ही मीमांसा स्वीकार करता है तथा वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करते हुए शब्द और अर्थ का नित्य सम्बंध स्वीकार करता है और शब्द की नित्यता ही वेद की अपौरुषेयता का आधार है।[८] विधिवाक्य वे वैदिक वाक्य हैं, जो कर्त्ता को किसी कर्म में प्रेरित करते हैं। इस प्रकार वैदिक वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट कर्म ही मीमांसा का निरूपणीय धर्म है।

यद्यपि चोदना लक्षणोर्थो धर्मः में चोदना शब्द के पाठ से यह प्रतीत होता है कि वेद के केवल विधि वाक्य ही प्रमाण है, विधि से अन्य भाग अप्रमाण स्वरूप हैं। इसका समाधान करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है कि यहाँ चोदना पद केवल विधि रूप के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है अपितु वह संपूर्ण वेद मात्र का ग्रहण करता है यह वेद पंचविध है- विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पांचों अङ्गों से मिलकर वेद का स्वरूप पूर्ण होता है।[९] विधि भाग क्योंकि साक्षात कर्तव्य का बोधक है इसलिए विधि वाक्य ही धर्म में प्रमाण स्वरूप स्वीकार किए गए हैं। वेद के अन्य चार भाग विधि को पुष्ट करने वाले हैं। मीमांसा दर्शन के वाक्य शास्त्रीय स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम मीमांसा के विधि स्वरूप पर वाक्य शास्त्रीय दृष्टि से विचार करेंगे।

अग्निहोत्र प्रकरण में दो वाक्य प्राप्त होते हैं-

१. अग्निहोत्रं जुहोति।

२. दध्ना जुहोति।

इन दोनों वाक्यों के साथ ही एक अन्य वाक्य भी प्राप्त होता है-

३. सोमेन यजेत।

---

[८] मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास पृ. ७५-७७

[९] तत्रापि चोदना शब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। अर्थसंग्रह पृ.१८

ये तीनों विधि वाक्यों को विधि के वाक्य शास्त्रीय विवेचन में समस्या के रूप में उपस्थित हैं। इनमें प्रथम वाक्य "**अग्निहोत्रं जुहोति**" विधि वाक्य है, विधि के नियमों के अनुसार जो वाक्य अज्ञातार्थ ज्ञापक अर्थात किसी प्रकरण गत विषय वस्तु को स्पष्ट करने वाला संपूर्ण वाक्य होता है, वह विधि-वाक्य है।[१०] विधि-वाक्य में धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय होता है तथा यदि विधि-वाक्य में फल का निर्देश ना हो तो विश्वजिन्न्याय से वहां पर फल का निर्देश किया जाता है जैसा कि अग्निहोत्रं जुहोति वाक्य में मीमांसान्यायप्रकाशकार ने फल का अन्वय करते हुए वाक्य दिया है - "**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**"।

यहां पर तीनों वाक्य सामान्यतः एक जैसे प्रतीत हो रहे हैं किंतु मीमांसा के वाक्य शास्त्रीय विवेचन के अनुसार अग्निहोत्रं जुहोति यह उत्पत्ति वाक्य है। प्रधान विधि वाक्य है अतः यहां धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय होगा तथा धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय होने तथा स्वर्ग फल का अध्याहार पर वाक्य का स्वरूप होगा "**अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्**" इस वाक्य का वाक्यार्थ होगा "**अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्**"।[११] द्वितीय वाक्य "दध्ना जुहोति" जो अग्निहोत्र प्रकरण में ही प्रथम वाक्य के पश्चात सुना गया है, स्वरूप में समान होने के उपरांत भी बाद में सुने जाने के कारण यह प्रधान विधि वाक्य नहीं है अपितु गुणविधि वाक्य है।[१२] गुणविधि में धात्वर्थ का अन्वय साध्य के रूप में होता है तथा यज्ञ का साधन भूत दधि करण के रूप में साधन आकांक्षा की पूर्ति करता है तथा

---

[१०] तत्राज्ञातार्थ ज्ञापको वेदभागो विधिः। अर्थसंग्रह पृ.६०

[११] कर्मस्वरूपबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः।... अत्र च विधौ कर्मण: करणत्वेनान्वयः। अर्थसंग्रहः ७६

[१२] यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते। अर्थसंग्रह पृ.६२

दोनों वाक्य का विनियोजन करके ही अर्थ स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार दोनों वाक्य के विनियोजन के पश्चात वाक्य का अर्थ होगा। याग के साधन भूत दधि का अन्वय साधन के रूप में होगा तथा द्वितीय वाक्य स्थित जुहोति पद को अनुवाद मात्र माना जाएगा क्योंकि प्रथम वाक्य से उसका बोध हो चुका है। ऐसी स्थिति में द्वितीय वाक्य केवल प्रथम वाक्य का सहायक होगा तथा दोनों वाक्यों के विनियोजन से वाक्यार्थ स्पष्ट होगा - **"अग्निहोत्रयागं दध्ना भावयेत्"।**

इसी प्रकार तृतीय वाक्य "सोमेन यजेत्" वाक्य सोमयाग प्रकरण में पठित है। सामान्यत यह वाक्य विधि वाक्य प्रतीत होता है किंतु मीमांसा के अनुसार वाक्यार्थ विवेचन की दृष्टि से इसे विशिष्ट विधि वाक्य माना जाता है। विशिष्ट विधि वाक्य वे विधि वाक्य हैं जिन वाक्यों में द्रव्य ही विशिष्ट कार्य का भी बोध कराता है।[१३] शबर स्वामी ने इसका विवेचन करते हुए कहा है कि किसी अन्य वचन से गुण कर्म के न कहे जाने से गुण व कर्म का विशिष्ट विधान मानना चाहिए अर्थात वाक्य निर्दिष्ट विशिष्ट द्रव्य ही विशिष्ट कर्म का बोधक हो जाता है ऐसे वाक्य विशिष्ट विधि के वाक्य माने जाते हैं यथा "सोमेन यजेत्"।[१४] यहां पर सोम पद लता वाच्य है, यज् धातु का अर्थ याग है तथा "त" विधायक प्रत्यय है। पूर्व प्रकरण की भांति यहां कर्म व द्रव्य का पृथक-पृथक वाक्यों द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है।

सोमेन यजेत यह वाक्य साधारणतया गुणमात्र को कहता है किन्तु मीमांसा के उक्त सिद्धांत के अनुसार गुण विधायक वाक्य से ही गुणविशिष्ट याग का बोध होता है। इस प्रकार "सोमेन यजेत" वाक्य का

---

[१३] यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते। अर्थसंग्रह पृ ६३-६५

[१४] तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद् चेदन्येन शिष्टाः। मी. द. ४.१.६

वाक्यार्थस्वरूप हुआ "सोमविशिष्टेन यागेन इष्टं भावयेत्"। किन्तु एक और समस्या सम्मुख जाती है कि जब विशिष्टता ही बतानी है तो सोमविशिष्टेन यागेन क्यों? यागविशिष्टेन सोमेन भी तो हो सकता है। मीमांसक इस समस्या के समाधान हेतु मत्वर्थलक्षणा की कल्पना करते हैं तथा निर्दुष्ट वाक्यार्थ स्वरूप स्पष्ट होता है- सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्।

विधि विचारणा के इस संदर्भ से वाक्यार्थ विषयक दो सिद्धान्त स्फुट होते हैं :-

१. किसी संदर्भ में समान दो वाक्यों के प्राप्त होने पर प्रथम वाक्य कर्म बोधक या मुख्यार्थ का अभिधायक होगा तथा द्वितीय वाक्य प्रथम वाक्य के सहायक के रूप में उसके अर्थ को सम्वलित करता है। जैसे गाँव चले जाना। बस से जाना। यह दो वाक्य सुने जाते हैं। उक्त सिद्धांत को इनके द्वारा भली-भांति समझा साथ जा सकता है, उक्त दोनों वाक्य समान रूप हैं परंतु समान अर्थ के अभिधायक नहीं है द्वितीय वाक्य प्रथम का पूरक है। प्रथम वाक्य द्वारा गमन क्रिया के लिए प्रेरणा प्रदान की जा रही है, जबकि द्वितीय वाक्य में पठित क्रियापद केवल अनुवाद मात्र है वहां गमन क्रिया के साधन के रूप में बस का कथन किया जा रहा है तथा दोनों वाक्यों के मिलाने पर अर्थ स्पष्ट होता है के बस रूपी साधन के द्वारा गाँव गमन रूप इष्ट को साधित करे।

२. यदि किसी संदर्भ में कर्म एवं द्रव्य के विधायक वाक्यों का उल्लेख नहीं मिलता है। केवल एक वाक्य ही मिलता है जिसमें द्रव्य का उल्लेख है, उससे द्रव्य के साथ कर्म का भी ग्रहण करना चाहिये। जैसे- किसी को कहा गया सेब खाओ। इस वाक्य में मुख्यतया सेव द्रव्य उल्लेख है किन्तु भक्षण क्रिया के धात्वर्थ से कर्म के स्वरूप को जानकर एक ही वाक्य से द्रव्य एवं कर्म का ग्रहण किया जाएगा तथा सेब खाओ

इस वाक्य का मत्वर्थलक्षणा से अर्थ स्पष्ट होगा सेव वाले भोजन से तुम्हें इष्ट साधित करना चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों का विवेचन शबरस्वामी ने क्रमश: जैमिनीय मीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद तथा प्रथम अध्याय के चतुर्थ पादस्थ लिड़ाधिकरण में किया है।

वेद के इस विधि भाग की चतुर्विधिता स्वीकार की गयी है- १. उत्पत्ति विधि, २. विनियोग विधि, ३. प्रयोग विधि, ४. अधिकार विधि।

किसी संदर्भगत वाक्य के सुस्पष्ट विवेचन में चारों विधियों का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्पत्ति विधि से कर्म के स्वरूप का बोध होता है। कर्मस्वरूप बोध के पश्चात् इस कर्म के लिये किन साधनों की आवश्यकता (कर्मकांड में किन द्रव्य व देवताओं की अपेक्षा है) है। उन की पूर्ति विनियोग विधि द्वारा होती है। तदनन्तर कर्म साधित करने के लिये किन उपायों का आश्रय लिया जाय एवं इसका क्रम क्या है ऐसी आकांक्षा होने पर प्रयोग विधि प्रवृत्त होती है। प्रयोग अनुष्ठेय पदार्थ की इयत्ता के अवगत होने पर कर्म के अधिकारी की अपेक्षा की पूर्ति अधिकार विधि करती है। जहां एक ही वाक्य में कर्म, द्रव्य एवं फल बोधित होते हैं, वहां कर्मांश से उत्पत्ति विधि, गुणांश से विनियोग विधि एवं फलांश से अधिकार विधि मानी जा सकती है।

उत्पत्ति विधि मीमांसा परम्परा में कर्म के स्वरूप मात्र का बोध कराने वाली विधि उत्पत्ति विधि कहलाती है जैसे अग्निहोत्रं जुहोति यह उत्पत्ति विधि है।[१५] उत्पत्ति विधि में कर्म का अर्थात धात्वर्थ का करणत्वेन अर्थात साधन के रूप में अन्वय होता है। ऐसा होने पर अग्निहोत्रं जुहोति इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्। इसके वाक्य शास्त्रीय स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन हम प्रधान विधि संदर्भ में कर

[१५] अर्थसंग्रह पृ. ७६

चुके हैं।

विनियोग विधि मीमांसा की कर्मकांड परंपरा में विनियोग विधि का महत्त्पूर्ण स्थान है किसी प्रकरण में कौन प्रधान और कौन अङ्ग है, इस संबंध का बोध विनियोग विधि द्वारा ही होता है। मीमांसान्यायप्रकाश में इसे अङ्ग प्रधान संबंध बोधक विधि कहा गया है।[१६] अर्थसंग्रहकार ने विनियोग विधि की परिभाषा करते हुए कहा है अङ्गों का प्रधान के साथ संबंध बोधक विधि को विनियोग विधि कहते हैं।[१७] अर्थात जिस विधि से अङ्ग एवं गौण अर्थात गुण एवं प्रधान के संबंध का बोध होता है वह विनियोग विधि कहलाती है। यथा दध्ना जुहोति। उक्त विधि वाक्य में दध्ना इस तृतीया श्रुति से ज्ञापित दधि रूप अङ्ग का अग्निहोत्र रूपी प्रधान (अङ्गी) के साथ संबंध का विधान करता है। इस प्रकार विनियोग विधि द्वारा उक्त विधि वाक्य से दधि एवं होम के मध्य अङ्गाङ्गिसंबंध का बोध कराता है। विनियोग विधि के वाक्यार्थ की प्रक्रिया गुणविधि जैसी ही है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि गुण विधि में धात्वर्थ अर्थात क्रिया का साध्यत्वेन अन्वय होता है और कहीं यह अन्वय आश्रयत्वेन भी होता है। यहां यह विशिष्ट यह है कि विनियोग विधि द्वारा अङ्गाङ्गिभाव के निर्धारण में उसके सहकारी षट् प्रमाण महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करते हैं। ये षट् प्रमाण है -१. श्रुति,२. लिंग, ३. वाक्य,४. प्रकरण, ५. स्थान एवं ६. समाख्या। ये षट् प्रमाण अङ्गाङ्गिभाव निर्धारण प्रक्रिया में किन्ही दो प्रमाणों के सन्निपात में क्रमशः पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है।[१८] विस्तार भय से हम यहां इन षट् प्रमाणों का विवेचन नहीं कर रहे

---

[१६] अङ्गप्रधानसंबंधबोधको विधिर्विनियोगविधिः। मी.न्या.प्र.पृ. ६४

[१७] अर्थसंग्रह पृ.८२

[१८] अर्थसंग्रह पृ.९०

हैं। किंतु वाक्यार्थ की दृष्टि से इन षट् प्रमाणों के द्वारा वाक्यार्थ निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं।

प्रयोग विधि- वह विधि है जो किसी याग के प्रयोग का कार्य प्राशुभाव से अर्थात बिना किसी विलंब के और असंबद्ध पदार्थों के व्यवधान के बिना किस प्रकार संपन्न हो सकता है इस विषय में बोधोत्पत्ति करता है। इसलिए प्रयोग विधि को प्रयोगाशुभावबोध को विधि कहा जाता है।[११] तात्पर्य है के किसी एक याग को संपादित करने का निश्चय करने पर संपादित किए जाने वाले याग के कौन-कौन से भिन्न-भिन्न अङ्ग है इसका निश्चय विनियोग विधि द्वारा किया जाता है किंतु प्रश्न यह उठता है कि उन भिन्न-भिन्न अङ्गों के क्रम को अर्थात अनेकों में से कौन से अङ्ग का अनुष्ठान प्रथम और किस अङ्ग का अनुष्ठान बाद में किया जाना है, यह कौन निर्देशित करेगा? कहीं अमुक अङ्ग के अनंतर किसी दूसरे अङ्ग का अनुष्ठान किया जाना है या उसे छोड़कर किसी तीसरे अङ्ग का अनुष्ठान किया जाए? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर उस याग के अनुष्ठान में व्यत्यय उत्पन्न होकर बिना कारण विलंब होने लगेगा और इस प्रकार का विलंब इष्ट नहीं है अतः विलंब ना हो और शीघ्रता से प्राशुभाव पूर्वक एक के पश्चात एक बिना किसी बाधा के अङ्गों का अनुष्ठान हो इसलिए व्यवस्था का समायोजन प्रयोग विधि द्वारा किया जाता है अथवा अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि को प्रयोग विधि कहते हैं यह लक्षण भी स्पष्ट होता है यह प्रयोग विधि अङ्गों के क्रम का निश्चय करने हेतु साधनी भूत क्रम के निर्णायक छह प्रमाणों का सहयोग लेती है। यह छह प्रमाण है -१. श्रुति, २.अर्थ, ३. पाठ, ४. स्थान, ५. मुख्य एवं ६. प्रवृत्ति। क्रम

---

[११] अर्थसंग्रह पृ.१९४

निर्धारण में इन छह प्रमाणों का योगदान इतना गंभीर है कि यह स्वयं एक विस्तृत विवेचन का विषय है अतः इस प्रसङ्ग को भी हम ज्यादा विस्तार नहीं दे रहे हैं। वाक्यार्थ विज्ञान में भी यह प्रयोग विधि अत्यंत उपयोगी है। जो सिद्धांत कर्मकांड के क्रम निर्धारण में उपयोगी है, वे ही किसी वाक्य के अर्थ निर्धारण में भी बिल्कुल उसी तरह उपयोगी हैं। प्रयोग विधि सामान्यतया कर्मकांड का क्रमनिर्धारक प्रतीत होती है। प्रयोग विधि के सिद्धांत किसी विस्तृत गद्यांश के वाक्यार्थ निर्णय की क्या स्थिति होती है इस तथ्य को भलीभांति व्याख्यायित करती है।

अधिकार विधि - फलस्वामिता की बोधक विधि को अधिकार विधि कहते हैं।[२०] वाक्यार्थ विचार संदर्भ में अधिकार विधि की चर्चा वास्तव में विचार वैदग्ध्य को प्रदर्शित करती है। अधिकार विधि वाक्य को पद अथवा पदार्थों का समूह मानने की पद्धति पर अङ्कुश है। वह इङ्गित करती है कि वाक्य में प्रयुक्त पद अर्थ के साथ कुछ कर्त्तव्यों का बोध कराता है तथा कुछ अधिकार प्रदान करता है। अधिकार विधि के स्वरूप का विचार करते हुए मीमांसान्यान्यप्रकाशकार ने कहा है कि कर्म से उत्पन्न फल को भोगने वाले को फलस्वामी कहते है व उसके धर्म के फलस्वरूप स्वामिता, जो व्यक्ति जिस फल को चाहता है वह उसके साधान याग आदि का अधिकारी होता है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि फलस्वामिता उसी की मानी जायेगी जो अधिकारी के विशेषणों से विशिष्ट होगा, जैसे **"राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत"** इत्यादि वाक्य द्वारा राज्य के लिये क्षत्रिय को ही अधिकृत किया है।[२१] वस्तुतः यह विधि सामाजिक व्यवस्था को भी वाक्य में ग्रथित करती है जैसे यदि कहा

---

[२०] कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। अर्थसंग्रह पृ.२४६

[२१] मी.न्या.प्र.पृ.१८३

जाय कि जो स्कूटर चलाना जानता हो वह स्कूटर से जल्दी चला जाय। यह वाक्य सामान्यतया स्कूटर चलाने के लिये उन सभी को अधिकृत करता है जिन्हें स्कूटर चलाना आता है। लेकिन **'तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव यो अधिकारिविशेषणविशिष्टः'** यह वाक्य स्पष्ट करता है कि नहीं, स्कूटर से केवल वे ही जा सकते हैं जो उसके चलाने के विशेषण अर्थात् लाइसेन्स विशेषित है। तात्पर्ययः जिनके पास लाइसेन्स है। वही स्कूटर से शीघ्र जाने में समर्थ है या जाने है अधिकारी हैं। इस प्रकार यह विधि चिन्तन एक संपुष्ट वाक्यार्थ विवेचन की दिशा को स्पष्ट करता है।

यह सर्वथा सत्य है कि मीमांसा वैदिक वाक्यों के अर्थ निर्धारण को दिशा देता है। किन्तु वे सिद्धान्त केवल वैदिक वाक्यों में ही उपयोगी हैं, लोकिकों में नहीं, ऐसा मानना, मीमांसा के प्रति हमारी अनभिज्ञता का ही परिचायक होगा। विधि स्वरूप के निदर्शन द्वारा किञ्चित् प्रयत्न इस ओर किया गया है कि विधि किस तरह लौकिक वाक्यार्थविज्ञान में सहायक है। यह विशेष अवधेय है कि शबर स्वामी व कुमारिल भट्ट दोनों ही आचार्य शब्दों के अर्थ ज्ञान में लोक प्रयोगों को ही साधन मानते हैं।[२२] पुनः वे सिद्धान्त लौकिक वाक्यों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हों यह असंभव है। वस्तुतः धर्म के निरूपणार्थ मीमांसाकार महर्षि जैमिनी ने वैदिक वाक्यों का विस्तृत विवेचन किया है जिसे देखकर लगता है कि यह किसी सुदीर्घ परंपरा का सुव्यवस्थित स्वरूप है। यह विवेचन इतना विशद है कि सामान्य जनमानस मीमांसा दर्शन को वैदिक कर्मकांड का प्रतिपादक शास्त्र मानता है। जबकि वस्तुतः मीमांसा का प्रमुख प्रयोजन धर्म प्रतिपादक वैदिक वाक्यों के तात्पर्यार्थ के निर्णय में उत्पन्न विभिन्न

---

[२२] क. सर्वेषामेव शब्दानामर्थज्ञाने लौकिकप्रयोगः अभ्युपायः। मी.द. शाबरभाष्य ६.१.१.१
ख. यथालोकं च शब्दार्थावधारणम्, न यथेच्छम्। शास्त्र दीपिका पृ. १२७

मतभेदों का निराकरण कर उनका सही स्वरूप प्रतिपादन करना है। इसके लिए उन्होंने प्राचीन परंपरा से प्राप्त वाक्य शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार वैदिक वाक्यों का विवेचन किया और उनका यथार्थ स्वरूप निर्णय करने का प्रयास किया है। वाक्यार्थ विश्लेषण विषयक गंभीर विवेचन के कारण ही मीमांसा दर्शन को वाक्य शास्त्र का नाम भी दिया जाता है। भारतीय शास्त्रीय परंपरा में पदवाक्यप्रमाणज्ञ शब्द में पद से व्याकरण, वाक्य से मीमांसा दर्शन एवं प्रमाण से न्याय दर्शन का ही ग्रहण होता है जो विद्वान व्याकरण मीमांसा और न्याय में समान गति रखता था उसे ही पदवाक्यप्रमाणज्ञ कहा जाता था।

वैदिकवाक्यों के अर्थनिर्धारण में मीमांसा दर्शन की भूमिका

डॉ. विनोद कुमार[१]

वैदिक या श्रौत यागों के सम्यक् परिज्ञान के लिए एक ओर जहाँ कतिपय वैदिक संहिताओं ब्राह्मणग्रन्थों व श्रौतसूत्रों का अध्ययन अपेक्षित है दूसरी ओर वहीं उक्तग्रन्थों में वर्णित यागों की विधि सम्पन्न करने कराने हेतु निर्धारित वैदिक वाक्यों की व्याख्या के लिए मीमांसा दर्शन का सहयोग अपेक्षित होता है। मीमांसा दर्शन को पूर्वमीमांसा, वाक्यशास्त्र, द्वादशलक्षणी भी कहा जाता है। कतिपय विद्वान् इसे विचारशास्त्र की संज्ञा देते हुए कहते हैं कि ९१५ या लगभग १००० अधिकरणों में इसके अन्तर्गत विचार निबद्ध हैं। मीमांसा दर्शन की कृतकोटी नामक व्याख्या के अनुसार इसमें पहले २० अध्याय थे किन्तु आजकल यह बारह अध्यायों में उपलब्ध होता है, जिसके परिशिष्टभाग में संकर्ष काण्ड की स्थिति मानी गयी है[२]। मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य धर्म है, '**धर्मबोधकप्रमाणं मीमांसादर्शनम्**'। मीमांसा के आचार्यों द्वारा

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत-पालि-प्राकृत-प्राच्यभाषाविभाग, इलाहाबाद विवि, प्रयागराज।**

[२] डा. काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ५, पृ. ९१-९४, सं.१९९६, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

यागादि को ही यहाँ धर्म अङ्गीकार किया गया है '**यागादिरेव धर्मः**'[३]। वस्तुतः वैदिक वचनों अथवा यागसम्बन्धी मूलपङ्क्तियों की व्याख्या के लिए पूर्वमीमांसा ने अपनी एक विशिष्ट पद्धति एवं सिद्धान्तों का उद्भव किया है। पूर्वमीमांसा का सबसे प्रमुख सिद्धान्त तो यही है कि वह वेद के किसी भी भाग (यहाँ तक कि एक शब्द को भी) निरर्थक नहीं मानता है- '**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य - मतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते**'[४]।

यद्यपि वेद की क्रियापरता व एक शब्द की भी निरर्थकता न होने को आधार बनाकर यहाँ प्रस्तुत सूत्र को पूर्वपक्षत्वेन वेद का अनित्यत्व सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत किया गया है। किन्तु आचार्य शबर के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में अनित्य शब्द जान-बूझकर प्रयुक्त किया गया है। वस्तुतस्तु वेद नित्य हैं अतः वह प्रमाण है। यहाँ अनित्य शब्द प्रयुक्त करने का आशय यह है कि वे वचन जो किसी धार्मिक कृत्य की ओर निर्देश नहीं करते, उस अंश से पृथक् हैं, जो कृत्यों से सम्बन्धित हैं और अनित्य अर्थात् अप्रमाण हैं। किन्तु अर्थवाद वचन वेद के उद्बोधनयुक्त वचनों अर्थात् विधिवाक्यों के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित हैं और उद्बोधनकारी वचनों की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते हैं '**विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**'[५]। यही कारण है कि वेद का अधिकांश भाग विधियों की प्रशंसा में अर्थवाद के रूप में विवेचित हुआ है। अतः यागसम्बन्धी वैदिक मन्त्रों का अर्थ करते समय अर्थवाद वाक्यों का विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यत्व-स्थापन अवश्यमेव

---

[३] लौगाक्षिभास्कर, अर्थसंग्रह, पृ. ११, सं. २००५ , चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

[४] षड्दर्शनसूत्रसंग्रह, पृ.२ सम्पादक – जे. एल. गुप्त चैतन्य, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

[५] आचार्य शबरस्वामी, पू. मीमांसासूत्र, अ.१, पा.२, सू.१ एवं ७ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार यागसम्बन्धी वैदिक वाक्यों के अर्थनिर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण ध्यान रखने वाली बात यह है कि जब बहुत से यागविधि सम्बन्धित मूलवचन एक ही विषय में अनेक प्रकार की व्यवस्था करते हुए या कहिए श्रवण गोचर होते हुए एक दूसरे के विरोध में पड़ जाते हैं तो श्रुति, लिङ्ग वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के प्रयोग को साधन मान लिया जाता है। इस स्थिति में उपर्युक्त प्रत्येक साधन में आने वाला परवर्ती साधन अपने पूर्व वाले से दुर्बल होता है क्योंकि प्रत्येक परवर्ती अपने से पूर्व वाले से अपेक्षाकृत अर्थ के सम्बन्ध से अधिक दूर होता है- '**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्**'[६]।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से यागसम्बन्धी वैदिक मन्त्रों के अर्थनिर्धारण हेतु व्याख्या-सम्बन्धी मीमांसा-नियमों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से कुछ को सामान्य नियम तथा कुछ को विशिष्ट नियम कहा जा सकता है, जो कि निम्नलिखित हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध अधिकार, अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र एवं प्रसङ्ग से रहता है तो कुछ नियमों को विशिष्ट विधि से संलग्न हो जाना पड़ता है।

विधियों, नियम विधियों एवं परिसंख्या विधि के अन्तर को प्रदर्शित करने वाले नियम सामान्य होते हैं। क्योंकि एक सामान्य नियम है कि केवल विधियाँ ही विशिष्ट आवश्यक प्रमाण वाली होती हैं तथा अर्थवाद तभी प्रामाणिक होते हैं, जब विधियों के साथ वाक्य रचना की पूर्णता घोषित करते हैं। उदाहरणार्थ मीमांसा दर्शन का एक सामान्य नियम है-

---

[६] षड्दर्शनसूत्रसंग्रह, पृ.१५ सम्पादक - जे. एल. गुप्त चैतन्य, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

'**सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्**'[७] अर्थात् किसी वचन के किसी अंश के अर्थ के विषय में कोई सन्देह हो तो उस वचन के शेषभागों पर निर्भर रहकर उसका निराकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ '**अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्** '[८] (अर्थात् वह लेपित कङ्कड़ रखता है वास्तव में घी दीप्तिमान् है) अब सन्देह होता है कि किस वस्तु से कङ्कड़ पर लेप लगाया जाता है? इस सन्देह का निराकरण वाक्य के शेष अङ्ग से हो जाता है कि 'वह घी है, जिससे कङ्कड़ पर लेप लगाया जाता है। इसी प्रकार दूसरा एक सामान्य नियम ग्रहैकत्वन्याय है। इसके अनुसार एकवचन में बहुवचन सन्निहित होता है[९]। उदाहरणार्थ- '**दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि**'। यहाँ एकवचन में प्रयुक्त ग्रह शब्द से क्या एक ही ग्रह अर्थात् पात्र को पौंछने या साफ करने का विधान है अथवा सभी ग्रहों को साफ करने का? वास्तव में तो यहाँ सभी ग्रहों अर्थात् पात्रों को स्वच्छ करना है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर एकवचन में बहुवचन सन्निहित मानने का सामान्य नियम है। इसी प्रकार पुल्लिङ्ग में स्त्रीलिङ्ग सम्मिलित मानना चाहिए। उदाहरणार्थ यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ में '**स्वर्गकामो यजेत**' में पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया है किन्तु महर्षि जैमिनि की व्यवस्थानुसार यहाँ यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की कामना करने वालों में स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं। अर्थात् उन्हें भी यह याग करने का अधिकार है। इस प्रसङ्ग में आचार्य शबर ने स्पष्ट भी किया है '**तस्मात् फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं**

[७] षड्दर्शनसूत्रसंग्रह, पृ.६ सम्पादक - जे. एल. गुप्त चैतन्य, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

[८] तैत्तिरीय ब्रा. का.३, अ. २, अनु. ५, कण्डिका १२

[९] पू. मीमांसासूत्र, अ. ३, पा. १, सू. १३-१५, पृ.२, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

परिगृह्णीयाद्यजेत चेति'[१०]। किन्तु कहीं-कहीं विधिवाक्य में किसी शब्द के लिङ्ग एवं वचन पर कुछ विषयों में ध्यान देना चाहिए और उसको उसी लिङ्ग या वचन के रूप में ग्रहण करना चाहिए[११]। यथा- **'यो दीक्षितो यदग्निषोमीयं पशुमालभति**' यहाँ एक वचन से युक्त ज्योतिष्टोम में बलि के निमित्त कर्मकाण्ड सम्पादनार्थ आहरित अग्निषोमीय पशु एक ही है। इसी प्रकार अश्वमेध के प्रसङ्ग में बलि के लिए आहरित होने वाले बहुवचन से युक्त पक्षियों की संख्या तीन ही स्वीकार की गई है- '**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्**'[१२]। इसे पूर्वमीमांसा में कपिञ्जलन्याय कहा जाता है[१३]। कपिञ्जलान् शब्द में बहुवचन का प्रयोग है अतः कम से कम तीन कपिञ्जलों की व्यवस्था है। यहाँ सहस्रों कपिञ्जलों की बलि से अधिक फल नहीं प्राप्त होगा। इस विषय में शास्त्रदीपिका का स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है – '**यो हि त्रीनालभते यश्च सहस्रं तयोरुभयोरपि बहुत्वसम्पादनमविशिष्टम् .... निवृत्तव्यापारे च विधौ न हिंस्यादिति निषेधशास्त्रं प्रवर्त्तत इत्यधिकानालम्भः'।**

जैमिनि के सूत्रों एवं वेद के शब्दों को यथासम्भव प्रचलित अर्थ में समझना चाहिए न कि पारिभाषिक या गौण अर्थ के रूप में। शबर के अनुसार वेद एवं प्रचलित प्रयोग में शब्द एक से हैं और उनके अर्थ भी एक से ही हैं '**य एव लौकिका शब्दास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्था**

---

[१०] आचार्य शबरस्वामी, पू. मीमांसा सूत्र, अ. ६, पा. १, सू. १३ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

[११] पू. मीमांसासूत्र, अ. ४, पा. १, सू. ११-१६, पृ.२६, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

[१२] यजुर्वेद वाज. सं. अ. २४, मन्त्र २०

[१३] पू. मीमांसासूत्र, अ. ११, पा. १, सू. ३१-४६, पृ. ८९, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

इति'[१४]।

शब्द को उसके अर्थ की छाया या सन्दर्भ में समझना चाहिए '**अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्**'[१५]। इसे यहाँ सामर्थ्याधिकरण कहा जाता है। उदा० **स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनावद्यति, हस्तेनावद्यति** अर्थात् वह स्रुव से काटता है, वह चाकू से काटता है, वह हाथ से काटता है। यहाँ सभी स्थानों में क्रिया '**अवद्यति**' ही है। प्रश्न यह है कि क्या सभी प्रकार के हवि पदार्थ चाहे वे तरल हों या अद्रव (कठोर) क्या वे स्रुव से ही काटे जाएँ या यजमान को उस हविद्रव्य के अनुरूप ही किसी यन्त्र या साधन का उपयोग करना चाहिए? यहाँ आचार्य शबर उपर्युक्त उद्धरण को पूर्वपक्ष के साथ प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं '**अर्थाद्वा कल्पना, सामर्थ्यात्कल्पनेति स्रुवेणावद्येद्यथा शक्नुयात् तथा तस्य शक्नुयात् तस्य चेति**'[१६]। तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति को हवि द्रव्य के अनुरूप ही साधन का उपयोग करना चाहिए। यथा घृत, पात्र से स्रुव द्वारा निकाला और आहुत किया जाता है। मांसल एवं अन्दर से कोमल पदार्थ चाकू से काटा जाता है तत्पश्चात् अग्नि में आहुत किया जाता है । समिधा आदि अन्दर एवं बाहर से अति कठोर पदार्थ हाथ द्वारा अग्नि में आहुत किए जाते हैं। निष्कर्षतः हवि के प्रकार के अनुरूप ही उस हविद्रव्य को अग्नि में समर्पित किया जाता है।

'**अन्यायश्चानेकार्थत्वम्**' आचार्य शबर के अनुसार एक ही वाक्य में एक ही शब्द का प्रयोग दो अर्थों में नहीं होना चाहिए अर्थात् मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में प्रयोग नहीं होना चाहिए **नह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता**

---

[१४] आचार्य शबरस्वामी, पू. मीमांसा सूत्र, अ. १, पा. ३, सू. ३० की व्याख्या (शाबरभाष्य)

[१५] पू. मीमांसासूत्र, अ.१, पा. ४, सू. २५, पृ. ६, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

[१६] आचार्य शबरस्वामी, पू. मीमांसा सूत्र, अ. १, पा. ४, सू. २५ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

सत्यां गतौ न्याय्या[१७]। आचार्य शङ्कर ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इस नियम को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा '**न ह्येकस्मिन्प्रकरणे एकस्मिंश्च वाक्ये एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः सम्बध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौणः तदध्यवसातुं शक्यं। वैरूप्यप्रसङ्गात्।**

जहाँ शब्दों के अनेक अर्थ हों, वहाँ विद्वान् आर्य लोगों के प्रयोग का अनुसरण करना चाहिए '**तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्**'[१८]। उदाहरणार्थ 'यवों से बना चरु, वराह के चर्म से बनी पादुकाएँ वेतस से बनी चटाई पर इकट्ठा करता है' यहाँ यव, वराह, वेतस् शब्द क्रमशः प्रियङ्गु, कौआ, काला बेर (जम्बू) के अर्थ में भी लिए जाते हैं । लेकिन वेद में इनका प्रयोग उसी अर्थ में करना चाहिए जिस अर्थ में शिष्ट लोग प्रयोग करते आए हैं न कि स्वेच्छा से किसी भी अर्थ में। यद्यपि आचार्य कुमारिल भट्ट ने आचार्य शबर के प्रस्तुत सिद्धान्त को पीलु आदि शब्दों का उदाहरण प्रस्तुत कर अमान्य ठहराया है ।

आचार्य शबर के मतानुसार जो शब्द मूलतः विदेशी हैं किन्तु संस्कृत में प्रचलित हो गये हैं, उन्हें उसी अर्थ में समझा जाना चाहिए, जिसका प्रचलन विदेशी भाषा में पाया जाता है अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति के लिए निरुक्त या व्याकरण का आश्रय नहीं लेना चाहिए[१९]।

जहाँ कतिपय विशेषताओं से सम्बन्धित कोई एक द्रव्य किसी सम्पादित होने वाले कर्म से सम्बन्धित होता है तो वहाँ उन सभी विशेषताओं को उसी द्रव्य से सम्बन्धित समझना चाहिए। यथा- **अरुणया**

---

[१७] वही, अ. ८, पा. ३, सू. २२ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

[१८] पू. मीमांसासूत्र, अ.१, पा. ३, सू. ८, पृ. ४, सं.२००४, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

[१९] आचार्य शबरस्वामी, पू. मीमांसा सूत्र, अ. १, पा. ३, सू. १० की व्याख्या (शाबरभाष्य)

पिशङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति[२०]।

निषादस्थपतिन्याय से अर्थ निर्धारण करना चाहिए अर्थात् जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध है, उनका अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। निषाद-स्थपति शब्द में जो निषाद (जिसका पिता ब्राह्मण और माता शूद्र हो) भी हो और उनका मुखिया भी हो, उस अर्थ को लिया जाता है न कि निषादों का कोई भी मुखिया, भले ही वह ब्राह्मण या क्षत्रिय हो[२१]।

साकांक्ष पदों के समूह की अपेक्षा वाक्य के अनुसार अर्थनिर्धारण करना चाहिए। **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्तभ्याम्। अग्नये जुष्टं निर्वपामि**[२२]। इसी प्रकार वाक्यभेद के सिद्धान्त के आधार पर भी यागसम्बन्धी वैदिक वचनों का अर्थ निकालना चाहिए अर्थात् किसी मन्त्र के विभिन्न भागों को जिनसे विभिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं, भिन्न-भिन्न वाक्यों के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए ।

अनुषङ्ग के सिद्धान्त के आधार पर यागसम्बन्धी वैदिकवचनों का अर्थनिर्धारण किया जाता है। अनुषङ्ग में शब्द, शब्दसमूह या वाक्य की एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक या अन्य वाक्यों तक अनुवृत्ति पाई जाती है, जब वे वाक्य एक ही प्रकार के हों। यथा - **या ते अग्ने रजःशया...**[२३]

इस प्रकार मीमांसा दर्शन का प्रमुख उद्देश्य यज्ञों की प्रक्रिया (इतिकर्तव्यता) तथा उसके कतिपय सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यवस्थित करना है, जिनमें वैदिकवाक्यों के अर्थनिर्धारण की व्यवस्था भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसी के द्वारा मनुष्य वेदोक्त धर्म एवं यागादि

---

[२०] वही, अ. ८, पा. ३, सू. २२ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

[२१] वही, अ. ६, पा. १, सू. ५१-५२ की व्याख्या (शाबरभाष्य)

[२२] तैत्तिरीय संहिता १/१/४/२

[२३] यजुर्वेद वाज. सं. अ. ५, मन्त्र ८, सं. १९९२ , परोपकारिणी सभा अजमेर

के वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं तथा उसे आत्मसात् कर अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं-

धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन कारणात्मना।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥
(शास्त्रदीपिका पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी टीका, पृ. ३६)

यज्ञ का अधिकार एवं मीमांसा दर्शन

डा. जगमोहन[१]

भारतीय संस्कृति यज्ञों की संस्कृति है। जिसमें यज्ञों की एक लंबी परम्परा प्राप्त होती है। न केवल यज्ञीय कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विपुल साहित्य प्राप्त होता है, अपितु इतिहास में अश्वमेध एवं राजसूय आदि यज्ञकर्ताओं के वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। यज्ञों के प्रसार एवं प्रचार के कारण इनकी व्यापकता यहां तक बढ़ गई थी कि ये यज्ञ न केवल इस लोक की विभव प्राप्ति का, अपितु असीम आनन्द मोक्ष की सम्प्राप्ति तक के मापदण्ड बन गए। ये हमारे जीवन के सर्वस्व बन गए थे।

यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि विचारकों के विविध समुदाय अथवा जनता के सम्पर्क में आने वाली विकासशील प्रवृत्ति कभी-भी एक स्वरूप में नहीं रह सकती है। धीरे-धीरे ज्ञान के विकास के साथ-साथ यह यज्ञीय कर्मकाण्ड इतनी अधिक मात्रा में अनेक श्रेणियों में प्रवाहित हुआ कि यज्ञ सम्बन्धी विषयों को लेकर अनेक वाद एवं प्रवाद शुरु हो गये थे, जिनका विमर्श अनिवार्य हो गया था।

इन विकसित यज्ञीय परम्पराओं और पद्धतियों की मीमांसा कर उनको शास्त्रीय एवं स्थायित्व स्वरूप प्रदान करने का कार्य मीमांसा दर्शन

---

[१] **सहायक आचार्य, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

ने किया है। यज्ञ के अधिकार को लेकर भी आचार्यों में बहुत मतभेद मिलता है। इस विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। अतः मेरे शोध-पत्र का विषय कोई नवीन नहीं है, किन्तु इसकी नवीनता एवं मौलिकता यह है कि इस शोध-पत्र में यज्ञ के अधिकार के विषय में मीमांसा दर्शन की दृष्टि को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

स्मृति एवं धर्मग्रन्थों के आलोडन एवं विलोडन से यज्ञ के अधिकार के विषय में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अनेक विसङ्गतियाँ आ चुकी थी। जहाँ एक स्मृति में कहा जा रहा था कि **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता** वहीं दूसरी ओर **स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्** इत्यर्थपरक अनेक वचन समाज में प्रचलित हो रहे थे। ऐसे समय में समाज का मार्ग प्रशस्त करने हेतु जैमिनि यज्ञाधिकार की मीमांसा अपने दर्शन में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- **फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्**[२] अर्थात् यज्ञ से श्रेष्ठ फलों की प्राप्ति होती है, अतः यज्ञ करने में सभी का अधिकार है। सब में स्त्री-पुरुष शूद्र सब का ग्रहण होता है। यह उनकी मुख्य स्थापना है किन्तु स्थापना मात्र से कोई तथ्य सिद्ध नहीं होता है। अतः वे प्रथम स्त्री के अधिकार के सम्बन्ध में अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए विरोधी पक्षों के तर्कों को उपस्थापित करते हुए मीमांसा करते हैं।

जैमिनि प्रथम तर्क प्रस्तुत करते है कि वैदिक कर्मों के अधिकार सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के लिए यज्ञ करने के अधिकार का निषेध नहीं है अतः यज्ञ करने में स्त्रियों का अधिकार है।[३] स्वार्थी एवं स्त्री विरोधी तथाकथित धर्माचार्यों के द्वारा तर्क प्रस्तुत किया गया की श्रुतियों में जहां कहीं पर भी वैदिक कर्मों के अधिकार का वर्णन किया गया है, वहाँ पर

[२] मीमांसा दर्शन ६.१.४

[३] कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् विधिःकार्त्स्न्येन गम्यते। मीमांसा दर्शन ६.१.५

सब जगह पुल्लिङ्ग का निर्देश है। अतः श्रुति-वाक्य में पुल्लिङ्ग का निर्देश पाए जाने से स्त्रियों का यज्ञ करने का अधिकार नहीं है।[४]

इस तर्क की मीमांसा करते हुए जैमिनि कहते हैं कि श्रुति वाक्यों में पुल्लिङ्ग का निर्देश जाति का बोधक है। क्योंकि जाति में पुल्लिङ्ग एवं स्त्री जैसी कोई विशेषता नहीं पाई जाती है अतः जातिरूप में अर्थ के तुल्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।[५]

स्त्री विरोधी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वैदिक कर्मों के लिए धन की आवश्यकता होती है और स्त्रियों के पास धन नहीं होता है। अतः उनका यज्ञ में अधिकार नहीं है और यदि स्त्रियाँ स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करके यज्ञ करें तो भी उनका यज्ञ में अधिकार नहीं हो सकता है क्योंकि उन पर पति का अधिकार होता है। अतः उनका कमाया धन भी पति का ही हो जाता है।[६]

इस तर्क की मीमांसा करते हुए जैमिनि कहते हैं कि धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों के करने का उत्साह पुरुष की भाँति स्त्रियों में भी पाया जाता है।[७] अतः यज्ञ आदि कर्मों में भी स्त्रियों का अधिकार है। जैमिनि ने यहां मानव मूल्याङ्कन के उच्च दृष्टिकोण को अपनाया है, जहां सभी प्रकार के वर्ग, जाति, सम्प्रदाय से ऊपर उठकर समाज को मानव के मूल्याङ्कन की दिशा निश्चित करनी चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार पुरुष का मन है,

---

[४] लिङ्गविशेषनिर्देशात्तु पुंयुक्तमैतिकायनः। मीमांसा दर्शन ६.१.६

[५] जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.८

[६] द्रव्यवत्त्वात् तु पुंसां स्यात् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्याम्, अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.१०

[७] फलोत्साहाऽविशेषात्तु। मीमांसा दर्शन ६.१.१३

उसी प्रकार स्त्री का भी मन है। दोनों संवेदना के स्तर पर बराबर है। दोनों की सवेदनायें समान हैं। यज्ञ के अधिकार के प्रश्न को लेकर कहीं न कहीं स्त्री पुरुष के मध्य परस्पर विद्वेष की बढ़ती हुई खाई को पाटने का उदारतापूर्ण प्रयास किया है। वहीं नारी के महत्त्व की भी सुरक्षा की है। आगे कहते हैं कि विवाह में पति-पत्नी दोनों को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इस फल चतुष्टय के सञ्चय का उपदेश दिया जाता है।[८] धर्मादि फल का सम्बन्ध पाए जाने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है। आगे कहते हैं कि शास्त्र में दम्पत्ती का एक ही धर्म बताया गया है। अतः स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति में से यज्ञादि कार्य कर सकती हैं अर्थात् पतियों की संपत्ति में उनका अधिकार है।[९] स्त्री पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य पाए जाने से एक समान कर्म करने का विधान है।[१०] शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष को मिलकर यज्ञ करने का तथा उसके द्वारा फल-चतुष्टय प्राप्त करने का कथन है।

स्त्री विरोधी तर्क प्रस्तुत करता है कि वेदाध्ययन में स्त्री की योग्यता पुरुष के बराबर नहीं होती है।[११] इस तर्क का समाधान प्रस्तुत करते हुए तो जैमिनि ने अपने हृदय की उदारता को खोलकर हमारे सामने रख दिया है, वह कहते हैं कि मान लिया कि वेद के अध्ययन में स्त्री पुरुष के समान योग्यता न रखने पर भी स्त्री के अग्न्याधान का विधान शास्त्र विहित है। इस प्रकार यज्ञ में स्त्रियों के अधिकार को प्रतिष्ठापित करने के बाद वे शूद्र के लिए यज्ञ के अधिकार को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं

---

[८] अर्थेन च संवेतत्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.१४

[९] स्ववत्तामपि दर्शयति। मीमांसा दर्शन ६.१.१६

[१०] स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्। मीमांसा दर्शन ६.१.१७

[११] तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.२४

कि चारों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों में कोई विशेषता नहीं है।[१२]

लेकिन प्रतिपक्षी धर्मी-आचार्य कहता है कि तीन वर्णों का ही यज्ञ में अधिकार है। शूद्र का उक्त कर्मों में कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ब्राह्मणादि वर्णों का अधिकार बोध कराने वाले श्रुति ऐसा ही कहती है।[१३]

जैमिनि इसकी मीमांसा करते हुए कहते हैं कि नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है। नैमित्तिक शब्द यहां स्वाभाविक के विपरीत अर्थ को देने वाला है अर्थात् जन्म के आधार पर किसी के वैदिक कर्म में अधिकार को सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता है। गुण एवं कर्म ही अधिकार का आधार हो सकता है।[१४] अपने इस पक्ष की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि शास्त्र वचनों के पाए जाने से भी यज्ञ आदि कर्मों में चारों वर्णों का अधिकार है।[१५]

प्रतिपक्षी कहता है कि यज्ञ के अधिकार का साक्षात् निर्देश तो शूद्र के विषय में प्राप्त नहीं होता अतः उसके अभाव में ब्राह्मणादि वर्णों को ही यज्ञ में अधिकार है।

इस तर्क की मीमांसा करते हुए जैमिनि कहते हैं कि उपनयन विधि में शूद्र के लिए व्रत न पाए जाने से उसे ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है क्या? यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह उचित नहीं है क्योंकि शूद्र में भी कामना पाई जाती है।[१६] वे भी चाहते हैं कि वे ब्रह्म विद्या को प्राप्त करें।

---

[१२] चातुर्वर्ण्यमविशेषात्। मीमांसा दर्शन ६.१.२५

[१३] निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः। मीमांसा दर्शन ६.१.२६

[१४] निमितार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात्। मीमांसा दर्शन ६.१.२७

[१५] अपि वाऽन्यार्थदर्शनात् यथाश्रुति प्रतीयेत। मीमांसा दर्शन ६.१.३३

[१६] न काम्यत्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.३१

जिस प्रकार ब्रह्मविद्या के अधिकार से उन्हें वञ्चित नहीं किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार यज्ञकर्म के अधिकार से उन्हें वञ्चित नहीं किया जा सकता है।

प्रतिपक्षी कहता है कि विद्या ग्रहण के लिए शूद्र का उपनयन संस्कार नहीं किया जाता है अतः जिस प्रकार शूद्र को उपनयन करने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार उसे यज्ञकर्म का भी अधिकार नहीं है।

इस तर्क की मीमांसा करते हुए जैमिनि कहते हैं कि संस्कार विषय में विशेषता का कारण ब्राह्मणादि वर्णों की प्रधानता है। अर्थात् शूद्र का उपनयन संस्कार इसलिये नहीं किया जाता क्योंकि तीन वर्णों की प्रधानता है। शूद्र में विद्या का सामर्थ्य न होने से उपनयन कर्म का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि वह विद्वान् बन जाए तो उसका भी अधिकार है।[१७] इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार स्त्री एवं शूद्र दोनों के यज्ञ के अधिकार की प्रतिष्ठापना करने के पश्चात् यज्ञाधिकार सम्बन्धी अन्य बिन्दुओं पर भी सामान्य चर्चा करते हैं।

क्या धनवान् व्यक्ति को ही यज्ञ का अधिकार है क्योंकि कर्मों की सिद्धि धन रूप साधन से होती है। निर्धनता की अवस्था अनित्य है।[१८] निर्धन भी अवसर पाकर धनवान् बन सकता है। अतः यज्ञ का अधिकार सबको है। यह सत्य है कि धन के बिना यज्ञादि कर्म साध्य नहीं है। किन्तु कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि किसी धनवान् व्यक्ति के द्वारा सहायता प्रदान कर दी जाती है। निर्धन व्यक्ति भी अपने पुरुषार्थ से अन्य लोगों की सहायता प्राप्तकर इस प्रकार के बड़े आयोजनों को कर लेता है। अत: निर्धनता के आधार पर उसको अधिकार से वञ्चित करना

---

[१७] संस्कारे च तत्प्रधानात्वात्। मीमांसा दर्शन ६.१.३२

[१८] अनित्यत्वात् तु नैव स्याद् अर्थाद् हि द्रव्यसंयोगः। मीमांसा दर्शन ६.१.४०

किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है।

क्या किसी दिव्याङ्ग व्यक्ति का यज्ञ में अधिकार है? इस विषय में जैमिनि कहते हैं, धर्म का सम्बन्ध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी पाया जाता है।[१९] अतः दिव्याङ्गजनों को भी यज्ञ करने का अधिकार है। दिव्याङ्गों के प्रति कितनी उदार एवं विशाल दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जिन समस्याओं का महर्षि जैमिनि ने एक तार्किक एवं मानवीय संवेदना से परिपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, ऋषियों के इसी सन्देश को अनेक महापुरुषों ने, महर्षि स्वामी दयानन्द एवं उनके अनुयायी आचार्यों ने बार-बार अपने ग्रन्थों, व्याख्यान एवं प्रवचनों के माध्यम से प्रचारित एवं प्रसारित किया। पुनरपि जब इन प्रश्नों को हम समाज में किसी न किसी रूप में पाते हैं तो अनायास ही ऋषि दयानन्द की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं कि आजकल के सम्प्रदाय और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्सङ्ग से हटा और अपने जाल में फंसा कर उनका तन, मन एवं धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जाएंगे तो हमारे पाखण्ड जाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे।[२०] इसी मनोदशा वाले व्यक्ति आज भी समाज में कहीं न कहीं विद्यमान हैं। परमात्मा हम सब को शक्ति प्रदान करे कि हम ऋषियों के सन्देश को अपने परिवार एवं समाज में प्रचारित प्रसारित कर सकें।

---

[१९] अङ्गहीनश्च तद्धर्मा। मीमांसा दर्शन ६.१.४१

[२०] सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

मीमांसा दर्शन में साधु-असाधु शब्दप्रयोग विमर्श

डॉ० सत्यकेतु[१]

वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म माना है। ब्रह्म के विवर्त्त के रूप में जगत् की प्रक्रिया प्रवर्त्तमान है[२]। शब्दों के साधुत्व असाधुत्त्व को लेकर चलने वाले व्याकरण को स्मृति के रूप में भर्तृहरि ने स्मृत किया है। इसका प्रवाह शिष्टों के आचार में निरन्तर रहा है[३]। शब्दों के साधुत्व असाधुत्व के विषय में प्रमाण शिष्ट[४] ही हैं। इसीलिये महाभाष्यकार ने कहा था **शिष्टज्ञानपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी**[५]। मीमांसा दर्शन को सामान्यतः कर्मकाण्ड का दर्शन माना जाता है। वस्तुतः यह वेद वाक्यार्थ विचारणा का दर्शन है। वेद वाक्यों के सम्बन्ध में उत्पन्न संशयों की निराकृति हेतु इसका प्रतिपादन ऋषियों ने किया। जिस प्रकार वेद अनादि हैं उसी

---

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विवि, लखनऊ**

[२] अनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। वा० प० ब्रह्मकाण्ड, १

[३] साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ वा० प० ब्रह्मकाण्ड, १३२

[४] इस आर्यावर्त्त में जो ब्राह्मण कुम्भीभर धान से विना लोभ के अकारण ही सदाचारी रह कर किसी विद्या विशेष में पारङ्गत हैं उन्हें शिष्ट कहा जाता है, म.भा., ६/३/१०९ पृ. २६१

[५] म० भा०, पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् सूत्र भाष्य में ६/३/१०९ पृ० २६१

प्रकार मीमांसा शास्त्र को भी अनादि माना गया है[६]।

सामान्यरूप से मीमांसा शब्द पूजित विचार के लिये प्रयुक्त किया जाता है। माङ् माने या माङ् पूजायाम् से सन् प्रत्यय करने पर मीमांसा शब्द निष्पन्न है। विचार पूर्वक वेदार्थ निर्णय कारक दर्शन के रूप में मीमांसा शब्द की निरुक्ति घटित होती है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने इसे बहुत विद्याओं का आश्रय कहा है- **मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता**[७]। अथातो धर्मजिज्ञासा से यह दर्शन आरम्भ होता है। इसीलिये कहा गया है कि **धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्**[८]- धर्म के विषय का प्रतिपादन करना मीमांसा दर्शन का प्रयोजन है। मीमांसा सूत्रकार आचार्य जैमिनि ने धर्म को वेद विहित प्रेरक लक्षण के अर्थ में परिभाषित किया है[९]। मीमांसादर्शन में १२ अध्याय हैं इसके प्रथम अध्याय का नाम प्रमाणलक्षण है। इसी अध्याय के तीसरे पाद का अष्टम अधिकरण व्याकरणाधिकरण के नाम से जाना जाता है। व्याकरणाधिकरण में व्याकरण शास्त्र की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है।

इस अधिकरण में ६ सूत्र हैं। इन सूत्रों में आचार्य जैमिनि यह विचार प्रस्तुत कर रहे हैं कि व्याकरण श्रुतिमूलक प्रमाण है या नहीं। प्रस्तुत प्रसङ्ग से पूर्व यह विचार हुआ कि एक शब्द अनेक अर्थ का वाचक माना जा सकता है या नहीं। किन्तु अब विचारना है कि अनेक शब्द

---

[६] मीमांसादर्शनम् भाग एक भूमिका पृ० सं० २४

[७] श्लोकवार्त्तिक, १३

[८] श्लोकवार्त्तिक, ११

[९] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, मीमांसासूत्र. १.१.२.

एकार्थ के वाचक माने जा सकते हैं या नहीं। इस सन्दर्भ में व्याकरण की उपेक्षा हो नहीं सकती अतएव प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या व्याकरण का प्रामाण्य श्रुतिमूलक है या नहीं। एक ही सास्नादिमान् गलकम्बल आदि से विशिष्ट प्राणी अर्थ में व्यवहृत होने वाले गो, गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि सभी शब्द प्रामाणिक हैं या केवल गो शब्द। क्या गो शब्द ही अनादि रूप में सास्नादिमान् गलकम्बल विशिष्ट प्राणी के अर्थ में वाचक है या सभी। यहाँ पूर्वपक्षियों का मानना है कि देश भेद से तथा वक्ताओं की अक्षमता से एक ही गो शब्द के गावी आदि अपभ्रंश उत्पन्न हो गये अतः जब से गो शब्द सास्नादिमान् प्राणी का वाचक है तभी से गावी आदि शब्द भी उक्तार्थ के वाचक हैं। आज यदि गावी आदि शब्द सास्नादिमान् प्राणी के बोधक हैं तो अनादि काल से उक्तार्थ के बोधक न मानने का कोई कारण नहीं है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का किस समय से बोधक हैं इसका निश्चय न होने से ये सभी शब्द अनादि मानने होगें। वाक्यपदीय में संग्रह के नाम से एक कारिका प्राप्त होती है जिसमें शब्दों के द्वारा अर्थों का अभिधान कब से आरम्भ हुआ इस विषय का उल्लेख प्राप्त होता है और माना गया है कि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध करने वाला वेद और लोक में कोई नहीं है अतः यही मानना चाहिये कि शब्दों ने ही अर्थों से स्वयं सम्बन्ध बना लिया होगा अर्थात् यह व्यवस्था अनादि है-

सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः स्वयम्॥[१०]

पूर्वपक्ष के मत में गो शब्द के समान ही गावी आदि भी शब्द हैं, साधु भी हैं और ये शब्द किसी अन्य शब्द के अपभ्रंश भी नहीं हैं।

[१०] वा० प० ब्रह्मकाण्ड, कारिका २६ की वृत्ति में पृ० १७५ पर संग्रह के नाम से उद्धृत।

साधुत्व और असाधुत्व विषयक श्रुत्युक्त प्रमाणाभाव के कारण यह भेद करना ही अनुचित है। यदि व्याकरण को उक्त प्रसङ्ग में साधु-असाधु, शुद्ध और अपभ्रंश का निर्णायक मानें तो व्याकरण का प्रामाण्य श्रुति मूलक नहीं है (पूर्वपक्ष में) जिसके कारण शब्दों की व्यवस्था नहीं हो सकती है- **प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् शब्देषु न व्यवस्था स्यात्॥**[११] प्रयोग की उत्पत्ति अशास्त्रीय होने से अर्थात् गो शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये गावी आदि शब्दों का नहीं इस प्रकार साधु शब्दों के प्रयोग के विषय में कोई श्रुति वचन न होने से साधु या अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग का कोई नियम नहीं हो सकता है। अतः नियामक के अभाव में सभी शब्द शुद्ध हैं और सभी शब्दों का प्रयोग करना चाहिये इस प्रकार प्रथम सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना करने के उपरान्त द्वितीय सूत्र से सिद्धान्त की स्थापना आरम्भ करते हैं-

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम्॥[१२]

अर्थात् शब्द का शुद्ध उच्च्वारण एक विशेष प्रयत्न से होने वाली प्रक्रिया है। यदि उस महता प्रयत्न साध्य प्रक्रिया का यथावत् पालन न किया जाये तो शब्द का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करना अत्यन्त कठिन है और उस अशुद्ध उच्चारण के कारण दुष्ट शब्द अपराध का भागी बनाता है। इसी भाव को महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथमाह्निक में आनुषङ्गिक प्रयोजनों के अन्तर्गत परिगणित किया है। उच्चारण दोष से युक्त दुष्ट शब्द स्वर या वर्ण के दोष के कारण उस अर्थ का बोधक नहीं बनता है जिसको वक्ता कहना चाहता है और वह अशुद्ध उच्चारण रूपी वज्र स्वयं वक्ता के ही विनाश का कारण बनता है जैसे इन्द्रशत्रु शब्द के उच्चारण

[११] मीमांसासूत्रम् १/३/२४

[१२] मीमांसासूत्रम् १/३/२५

में यजमान ने स्वर अशुद्ध उच्चरित किया जिसके परिणाम स्वरूप अर्थ का अनर्थ होने से वह वाणी वज्र बन गई और त्वष्टा का वृत्र मारा गया[१३]।

शब्द का सर्वथा शुद्ध उच्चारण एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम है। जब चेतन प्राणी बोलने की इच्छा करता है तब मन प्रेरणा रूप व्यापार को करता है। मन से प्रेरित होकर उदरस्थ अग्नि वायु को प्रेरित करता है और वह नाभि से ऊपर उठता हुआ उरःस्थल एवं कण्ठ से होता हुआ मूर्धा को स्पर्श करके विभिन्न ताल्वादि स्थानों के सहयोग से विविध शब्दों की अभिव्यञ्जना करता है[१४]। इससे सिद्ध होता है कि शब्द की निष्पत्ति प्रयत्न विशेष से साध्य है। यदि सभी शब्दों को शुद्ध माना जाये तो किसी प्रकार के दोष होने का अवसर ही नहीं है। किन्तु यदि शब्द का उच्चारण प्रयत्न साध्य है तो अपराध होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः गावी आदि शब्द गो शब्द के शुद्ध उच्चारण में विकलता के कारण दोषी उच्चारणकर्ताओं के द्वारा बढ़ते चले गये। अर्थापत्ति से गावी आदि सभी शब्दों को अनादि और शुद्ध मानना अनुचित है। अर्थापत्ति तभी सम्भव है जब अन्यथा उपपत्ति सम्भव न हो जबकि प्रकृत विषय में उच्चारण प्रक्रिया में प्रयत्न विकृति के कारण असाधु-अपभ्रंश शब्दों की निष्पत्ति बताई गई है[१५]।

---

[१३] म० भा० प्रथमाह्निक, दुष्टः शब्दः। पृ० १६

[१४] इसी आशय का एक श्लोक पाणिनीय शिक्षा में भी आता है- आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥ पा० शि० ६,७

[१५] ततोऽपराधात्प्रवृद्धा गाव्यादयो भवेयुर्न नियोगतोऽविच्छिन्नपारम्पर्या एवेति॥ मीमांसासूत्र शाबर भाष्य १/३/२५, पृ० ५७१

एतदनन्तर दूसरी समस्या की ओर ध्यान दिलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं है कि एक जैसे अनेक शब्द एक ही अर्थ के वाचक होते हैं- **अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्॥**[१६] ऐसा मानने से शब्द का अप्रामाण्य मानना होगा। जब कोई अव्युत्पन्न व्यक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान करता है तब निर्णय करता है कि यह गो शब्द वाच्य है यह अश्व या मृग शब्द वाच्य नहीं है इत्यादि नियम से ही उसे गो वाच्य का सम्यक् बोध होता है। किन्तु गावी, गोणी आदि शब्दों का वाच्य भी वही है जो गो पद वाच्य है तो पूर्व नियम का बाध होता है। ऐसी स्थिति में अव्युत्पन्न व्यक्ति को बोध नहीं हो सकेगा। यह जो हस्त, कर, पाणि आदि शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग किया जाता है वह शिष्ट व्यवहार के कारण जाना जाता है। लेकिन् ऐसा नहीं है कि इन एकार्थक शब्दों का व्युत्पत्ति लभ्य अन्य अर्थ न हो। हस्त पद हिंसा के अर्थ में साधु है तो कर सामान्य क्रिया में तथा पाणि पूजा के अर्थ में साधु है। क्योंकि इनकी व्युत्पत्ति क्रमशः हिंसार्थक हन्, क्रियार्थक कृ तथा पूजार्थक पण् धातु से हुई है। अर्थबोध शब्द के अधीन है यदि वह एक ही शब्द से सम्भव है तो उसके लिये अनेक शब्दों की व्यर्थ है।

अब प्रश्न यह उठता है यदि एक शब्द शुद्ध है साधु है और अन्य उसके स्थान पर उच्चारण दोष के कारण अशुद्ध और असाधु हैं तो यह निर्णय कौन जानता है और कैसे तो इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार अग्रिम सूत्र उपस्थापित करते हैं- **तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात्॥**[१७] भाष्यकार उक्त सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि क्या तत्त्व जाना जा सकता है?

---

[१६] मीमांसासूत्रम् १/३/२६

[१७] मीमांसासूत्रम् १/३/२७

हां, जाना जा सकता है। जिन्होंने व्याकरण आदि शब्दविद्याओं के प्रयोग से शब्दों के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है ऐसे दृष्टार्थियों के द्वारा उपदेश के आधार पर तत्त्व का निर्णय किया जा सकता है कि अमुक शब्द शुद्ध है साधु है अमुक अशुद्ध या असाधु है[१८]। यहाँ सूत्रकार का अभियोग शब्द से स्पष्ट सङ्केत व्याकरणादि शब्दसंस्कारक विद्या की ओर है। भाष्य विवरण में स्पष्ट किया गया है

अभियोगो=लक्षणात्मकव्याकरणशास्त्राभ्यासः।[१९]

गावी आदि शब्दों से जो सास्नादिमान् प्राणी का ग्रहण होता है अतः इन शब्दों का भी अर्थ से सम्बन्ध अनादि है। यह वस्तुतः उच्चारण कर्ता की अशक्ति को द्योतित करता है- **तदशक्तिश्चानुरूपत्वात्॥**[२०] जिसने गो शब्द का उच्चारण करने की इच्छा पर अशक्तिवशात् गावी आदि अशुद्ध असाधु शब्दों का उच्चारण कर दिया है। और फिर उनके सम्प्रदाय में यही शब्द प्रचलन में आ गया। इसीलिये गो अनुरूप शब्द के उच्चारण के कारण अशुद्ध उच्चरित होते हुए भी उक्त गावी आदि शब्द सास्नादिमान् प्राणी रूप के वाचक बन जाते हैं। वस्तुतः वक्ता गो ही बोलना चाह रहा था। सूत्र में अशक्ति पद उच्चारण सामर्थ्य में न्यूनता के साथ-साथ व्याकरणादि लक्षणशास्त्र की अज्ञता के लिये भी है।

सूत्रकार एक अन्य हेतु देते हैं- **एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्॥**[२१] अर्थात् एकदेश में विकृति होने पर भी अन्य अविकृत अंश के

---

[१८] मीमांसासूत्र भाष्य १/३/२७ पृ० ५८३

[१९] मीमांसासूत्र भाष्य १/३/२७ पृ० ५८३

[२०] मीमांसासूत्रम् १/३/२८

[२१] मीमांसासूत्रम् १/३/२९

द्वारा अर्थज्ञान सम्भव हो जाता है। जैसे विभक्ति परिवर्त्तित रहने पर भी तत्सादृश्य के आधार पर जिस प्रकार बोध हो ही जाता है। उसी प्रकार गावी आदि शब्दों से गो वाच्य का बोध उत्पन्न होता है। जैसे अश्मकेभ्यः आगच्छति के स्थान पर अश्मकैरागच्छति इस प्रकार अशुद्ध विभक्ति उच्चरित हो जाने पर भी अश्मक नामक देश से आता है ऐसा बोध उत्पन्न हो ही जाता है। अतः जब भी अशुद्ध असाधु गावी आदि शब्दों से अर्थबोध उत्पन्न होता है वह गो शब्द स्मरणपूर्वक गो शब्द वाच्य सास्नादिमान् गलकम्बलविशिष्ट प्राणी का बोध होता है। केवल गावी आदि असाधु शब्दों का किसी अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है वह सम्बन्ध गो का है और अर्थबोध भी गो शब्द स्मरणपूर्वक ही होता है। आचार्य भर्तृहरि ने भी ब्रह्मकाण्ड की अन्तिम कारिकाओं में साधु शब्द एवं अपभ्रंश का विस्तार से प्रतिपादन किया है[२२]।

इस अधिकरण के आरम्भ में पूर्वपक्ष की स्थापना में जो प्रयोग (लक्षण शास्त्र व्याकरणादि) को शास्त्र प्रमाणित नहीं माना था उसका सूत्रकार ने स्वयं ही निरास अभियोगविशेषात् कह कर किया है। वस्तुतः व्याकरणशास्त्र की श्रुतिमूलकता के विषय में पतञ्जलि का महाभाष्य प्रमाण है। अनेक ऋचाओं की व्याख्या व्याकरण परक की गई है। चत्वारि शृङ्गाः०, चत्वारि वाक्०, सक्तुमिव, उत त्वः० और सुदेवोऽसि वरुण० इत्यादि ऋचाओं की व्याख्या प्रथमाह्निक में ही देखी जा सकती है जहाँ व्याकरण की श्रुतिमूलकता स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में उक्त साधु-असाधु शब्द प्रयोग विमर्श की आवश्यकता है यज्ञों में साधु शुद्ध शब्दप्रयोग के सापेक्ष है। इसके सम्बन्ध में महाभाष्यकार ने ऋषियों

[२२] द्रष्टव्य वा० प० ब्र० का० कारिका सं० १३८-१४६

का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामान्य रूप से भाषा व्यवहार में वे ऋषि यद्वा नः तद्वा नः के स्थान पर यर्वाणस्तर्वाणः ऐसा उच्चारण करते थे किन्तु यज्ञ कर्म करते हुए शुद्ध साधु शब्द का ही उच्चारण करते थे[२३]। आनुषङ्गिक प्रयोजनों में असुरों की पराजय का कारण यज्ञकर्म में अपभाषण म्लेच्छन ही था[२४]। त्वष्टा द्वारा भी यज्ञ कर्म करते हुए दुष्ट शब्द का प्रयोग किया जिसके कारण पराभव को प्राप्त किया। इसके विपरीत एक शब्द भली प्रकार जान लेने पर शुद्ध रूप में प्रयोग करने स्वर्ग लोक में कामनाओं की पूर्त्ति करने वाला सिद्ध होता है[२५]। अतः शब्द से ही अर्थ का अभिधान करना चाहिये अपशब्द से नहीं। मीमांसा दर्शन का भी अभिप्राय इससे भिन्न नहीं है।

---

[२३] याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। म० भा० प्रथमाह्निक वार्त्तिक ०७

[२४] तेऽसुराः। आनुषङ्गिक प्रयोजन, म० भा० प्रथमाह्निक एवं तैः पुनरसुरैर्याज्ञकर्मण्यपभाषितम्। ततस्ते पराभूताः।म० भा० प्रथमाह्निक वार्त्तिक ०७

[२५] एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति। म० भा०, एकः पूर्वपरयोः ६.१.८४, आह्निक ०४ पृ० ८४

वैदिककर्मकाण्डानां मनोविश्लेषणात्मकम् अध्ययनम्

सुखेनघोषः[१]

वेदास्सन्ति सर्वेषां ज्ञानानामाधारग्रन्था इति विदुषां सर्वसम्मतं मतम्। एतस्मात् कारणात् संस्कृतवाङ्मये वेदानां महत्त्वं सर्वोपरि वर्तते इत्यत्र नास्ति काचित् विप्रतिपत्तिः। सत्यविद्यानामागारस्वरूपः[२] अयं वेद-शब्दस्तु ज्ञानार्थकात् विद् धातोरुत्पद्यते। वेदेन शाश्वतस्य सनातनस्य च ज्ञानस्य उपायो निगद्यते। प्रमुखैराचार्यैर्वेदस्यास्य बहुविधानि लक्षणानि निश्चीयन्ते,तद्यथा-सायणाचार्यः कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयभाष्यभूमिकायां वेदपदं परिभाषयन्नाह-

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः[३]। इति

---

[१] **शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, महात्मा-गाँधी-केन्द्रीय-विश्वविद्यालयः, बिहारः**

[२] 'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।', ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. २०

[३] Sāyaṇas Upodghāta to The Taittriya Saṁhitā. Trans. Dr. Saraswati Bali. १९९९, P. ३३

महर्षियाज्ञवल्क्येनापि वेदपदं परिभाषयता निगदितम्-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता[४] **॥**

मुख्यतया वैदिकसाहित्यस्य मन्त्रभेदेन ब्राह्मणभेदेन च भागद्वयं वर्तते- **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**[५]**।** परन्तु सौविध्यर्थं वैदिकवाङ्मयस्य विभागचतुष्टयमुपलभ्यते- संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्यकम्, उपनिषद् चेति। एतत्तु कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड-उपासनाकाण्डभेदेन त्रिविधम्। एतेषु काण्डत्रयेषु वेदविहितानि श्रौतकर्मानुष्ठानानि गृह्यकर्मानुष्ठानानि च यस्मिन् काण्डे वर्णितानि तत्तु कर्मकाण्डमित्यभिधीयते। तत्र संहितादिभागचतुष्टये ब्राह्मणांशे संहितायां प्रतिपादितानां यागादिकर्मणां मीमांसा प्रदर्शिता। यज्ञकर्म भवति वैदिकसंस्कृतेः मूलाधार इति विदुषां मतम्। शतपतब्राह्मणे उक्तञ्च - **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं** स्वाध्यायादिनामनुष्ठानं **कर्म**[६]**।** देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु यज् धातुना सह नङ्-प्रत्ययोगेन निष्पन्नो यज्ञशब्दः। यस्यार्थो भवति इज्यते, देवपूजनं सङ्गतिकरणञ्च क्रियते यत्र स यज्ञः[७]। सामान्यत आहवनीयाद्यग्नित्रयसाध्यं कर्म श्रौतयज्ञ इत्यभिधीयते, तद्यथा- अग्निष्टोमादि सप्तविधः सोमयज्ञः; अग्निहोत्रादि सप्तविधो हविर्यज्ञश्च। एवम् आवसथ्यग्निसाध्यं गृह्याग्निसाध्यं वा कर्म स्मार्तयज्ञ इत्यभिधीयते, तद्यथा - ब्रह्मयज्ञादिपञ्चमहायज्ञाः, गर्भाधानादयः षोडशसंस्काराश्च। इतोऽपि शास्त्रविहितानां सत्कर्मणामनुष्ठानं कर्मयज्ञः, शास्त्रविहतानां ज्ञानयज्ञ इत्यभिधीयते।

---

[४] तदेव,पृ. ३३

[५] शतपथब्राह्मणम् १.७.१.५

[६] आपस्तम्बश्रौत्रसूत्रम्, परिभाषाप्रकरणम् २४.१.३१

[७] अष्टाध्यायी ३.३.९०

कस्यापि धर्मस्य पक्षद्वयं विद्यते, यथा तस्य आचारमीमांसा कर्ममीमांसा च। वैदिककर्मकाण्डमपि अत्यन्तं प्राचीनम्, संश्लिष्टम्, निगूढप्रतिकात्मकञ्च। एतेषु मनोविज्ञानस्य, समाजविज्ञानस्य, नैतिकविज्ञानस्य, आत्मविज्ञानस्य, अध्यात्मविज्ञानस्य च गूढो महत्त्वपूर्णश्च सन्दर्भसङ्केतः अन्तर्निहितःअस्ति। अतो भारतीयधर्म- अध्यात्म-समाजस्य च ज्ञानाय वेदप्रतिपादितानां श्रौतगृह्योभयानुष्ठानानां विवेचनं विश्लेषणञ्च आवश्यकम्। एतेषु कर्मानुष्ठानेषु गूढं मनोवैज्ञानिकतत्त्वम् अन्तर्निहितमस्ति। अध्यापकगिरीन्द्रशेखरबोसेन उक्तम्- **We may assume that in the formulation of the religious rites the Rishis gave vent to the repressed cravings in symbolic form**[८]**.** अतो वैदिककर्मकाण्डेषु अन्तर्निहितानां मनस्तत्त्वानां विश्लेषणम् अत्र चिकीर्ष्यते।

मानवमनः चेतनमनस्तत्त्वेन (Conscious Mind), अर्धचेतनमनस्तत्त्वेन (Subconscious Mind), अचेतनमनस्तत्त्वेन च (Unconscious Mind) त्रिविधम्। तेषां मानसिकस्तराणां विश्लेषणमाध्यमेन मानसोपचार एव मनोविश्लेषणस्य (Psycho-analysis) मूलोद्देश्यम्। मनोविशेषज्ञाः मानसिकावसादग्रस्तानां निपीड़ितानाम् अस्वस्थ्यानाञ्च रोगीणाम् अबाधभावानुवादेन (Free association) स्वप्नविश्लेषणेन (Dream analysis) च मनोरोगीणां विविधलक्षणानां (Symptoms) विश्लेषणेन उपबोधनप्रविधिना (Counselling) मानसोपचारं कुर्वन्ति। तथैव अथर्ववेदस्य षष्ठकाण्डे साम्मनस्यसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रे मानसिकरोग-ग्रस्तानां मानसोपचारस्य वर्णनं विधीयते-

---

[८] Bose, Girindrashekhar. Concept of Repression. १९२१, P. ९९

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत[९] ॥ इति

उपर्युक्तमन्त्रेऽस्मिन्प्रतिकूलमानसिकस्थितियुक्तानां मनुष्याणां मनोऽनुकूलयितुं वशीकरणेन (Hypnotize) उपबोधनमाध्यमेन तस्य मानसोपाचरस्यमनोपशमनस्य च विधिः वर्णितोऽस्ति। शतपथब्राह्मणेऽपि मनस्तत्त्वस्य सर्वे विषया वर्णिताः सन्ति, तद्यथा- **कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येत्सर्वम्मन एव**[१०]।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषिः शुक्लयजुर्वेदस्य चत्वारिंशाध्यायस्य शिवसङ्कल्पसूक्ते मनसो महत्त्वं व्यपकत्त्वञ्च वर्णयन्नाह-

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु[११] ॥

मनसस्सामर्थ्येनैव मेधाविनः कर्मनिष्ठा धीरा यज्ञे क्रियमाणानि कर्माणि कुर्वन्ति। तत् यक्षमनः प्रजानां शरीरस्य मध्यभागेआस्ते, अर्थात् इतरेन्द्रियेभ्यः श्रेष्ठतमं पदमधीकृत्य अस्तीति। तादृशं सामर्थ्यविशिष्टं मे मनः शिवो नाम कल्याणकारीसङ्कल्पयुक्तो भवेदित्याशयः। अनेन ज्ञायते यत् कर्मानुष्ठानाय मनः अत्यन्तं महत्त्वपूर्णम्। अस्मिन्नेव मीमांसादर्शने प्रतिपादिताभिः शाब्दी-आर्थीभावनाभिः सूक्ष्मं मनोवैज्ञानिकतत्त्व-मन्तर्निहितमस्ति। तासु भावनासु अभिप्रेरणायाः (Motivation) सन्दर्भसङ्केतो निहितः अस्ति। तथैव लौगाक्षिभास्करेण उक्तं यत्- **स च यागादि 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति**

---

[९] अथर्ववेदः ६.९४.२

[१०] श.ब्रा. १४.४.३.९

[११] माध्यन्दिनसंहिता ३४.२

विधीयते[१२]। अर्थात् 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिप्रवर्तनारूपविधिवाक्येन आहिताग्निपुरुषः कर्मणि प्रवर्तते। परन्तु सर्वादौ मनसि प्रश्नः जायते- किमर्थं कर्म करिष्यामीति? यतोहि-**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**[१३]। तस्य आहिताग्निपुरुषस्य किम्भावाकाङ्क्षायानिराकरणं स्वर्गकाम इति अर्थवादरूपप्राशस्त्येन सत्यब्राह्मणोक्तवाक्येन भवति, अर्थात् यागेन स्वर्गादिरूपमिष्टं भावयेत् इति प्रेरणात्मकभावना (Motivation for action) मनसि सञ्जायते। मनोविशेषज्ञाः अपि रोगीणां मनोविश्लेषणेन परामर्शविज्ञानेन कर्मणि प्रवर्त्तयितुं प्रेरणां प्रयच्छन्ति- **A motive is any particular factor or condition that to initiate and to sustain activity**[१४]**.**

वर्तमाने समग्रविश्वे अशान्तेः वातावरणं सञ्जातम्, विप्रतिपत्तिबुद्धियुक्ता मानवाः असत्कर्मे प्रवृत्ता भवन्ति। चौर्य्यकर्मणि, असामाजिककर्मणि वा प्रवृत्तास्ते वाक्-काय-मनसा एकम् अपरं हिंसन्तीति। परन्तु यः पुरुषो नित्यः शास्त्रविहितानि कर्माणि सम्पादयति, अनेन कर्मानुष्ठानेन तस्य बुद्धेः शुद्धिर्भवति- **एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनम्**[१५]। ते कर्मनिष्ठा मेधाविनः सावित्र्यादिमन्त्रैः सत्कर्मणि प्रवर्तनस्य सङ्कल्पं प्रयच्छन्ति-

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही। धियो यो नः प्रचोदयात्[१६] ॥

उपर्युक्तमन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरस्य सकाशे प्रार्थना क्रियते यत्-

---

[१२] अर्थसङ्ग्रहः, व्याख्या. डॉ. वाचस्पति उपाध्यायः, १९७७, पृ. १६

[१३] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रहः ११

[१४] J.P., Guilford. General Psychology. १९५६, P. ९१

[१५] वेदान्तसारः, व्या. पण्डितरामस्वरूपः, १९५७, पृ. ११

[१६] मा.सं. ३०.२

जगत्प्रसवितुः सवितुः श्रेयस्करं तेजः शुद्ध्या बुद्ध्या च वयं ध्यायेम। सा सविता अस्माकं धियः सत्कर्मसु उत्तमकर्मसु शोभनकर्मसु च प्रवर्तयतु इत्याशयः। गायत्र्यादिमन्त्रैः अन्तर्निहितस्य प्राणशक्तेः क्रियाशक्तेः ब्रह्मवर्चसश्च वृद्धिर्भवति, तथैव उच्यते- **गायत्री ब्रह्मवर्चसम्**[१७]**, तेजो ब्रह्मवर्चसं गायत्री**[१८]**, वीर्यं वै गायत्री**[१९] इति। अथर्ववेदेऽपि उक्तम्-

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्[२०] ॥

अर्थात् मनसः, चित्तस्य, बुद्धेः, सङ्कल्पस्य, स्मृतेः, मत्याः, श्रुतेः, दर्शनशक्तेश्च अभिवृद्ध्यर्थं वयं हविषा अर्चयामः। सातवलेकरस्य मतानुसारं मन्त्रेऽस्मिन् अन्तःकरणशक्तीनाम् अपि च बाह्यानां ज्ञानेन्द्रियशक्तीनां वृद्ध्यर्थं प्रार्थना कृता। मनः, चित्तम्, धारणावती बुद्धिः, सङ्कल्पशक्तिः, स्मृतिः, मतिः, श्रवणशक्तिः, दृष्टिः, प्राणः, अपानः, व्यानः, विद्या, ज्ञानविज्ञानेत्यादयः अनन्तशक्तय मनुष्ये सन्ति। मनुष्यस्य विकास एवं शान्तिश्च तदा भविष्यति यदा आसां शक्तीनां वृद्धिर्भविष्यति। अत इमाः शक्तयः प्रशस्तेषु सत्कर्मषु प्रवृत्ता भवन्ति इत्याशयः[२१]। मनोविज्ञानस्य भाषया- **Mental Hygiene is concerned with the maintenance of mental health and prevention of mental disorder**[२२]**.**

---

[१७] तैत्तिरीयब्राह्मणम् २.७.३.३

[१८] जैमिनीयब्राह्मणम् २.१३१

[१९] ताण्ड्यब्राह्मणम् ७.३.१३

[२०] अथर्व. ६.४१.१

[२१] अथर्ववेद सुबोध भाष्य ६.४१.१

[२२] J.A., Hadfield. Psychology and Mental Health. १९५०, P. ११

ज्योतिषां ज्योतिस्स्वरूपस्य मनसः सामर्थ्येन एव सर्वे कर्माणि कुर्वन्ति। तस्य कृते दृढसङ्कल्पस्यदृढेच्छाशक्तेश्च (Will Power) आवश्यकता भवति। दृढसङ्कल्पेन इच्छाशक्त्या च निर्जीवः सजीवो भवति, अबलाः सबला भवन्ति, मूर्खा विद्वांसो भवन्ति, रोगिणः स्वस्था भवन्तीति। उक्तञ्च यजुर्वेदे-

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु[२३] **॥**

दर्शपूर्णमास- अग्निष्टोम- अश्वमेध- राजसूय- जातेष्ट्यादीनां वैदिककर्मकाण्डानाम् अनुष्ठानेन तत्क्षणादेव स्वार्गादिफलानां प्राप्तिर्न भवति। एतेषु प्रतिकात्मककर्मसु प्रतिकायनरूपो निगूढसङ्केतः अन्तर्निहितः अस्ति। यथा एतेषां कर्मणामनुष्ठानेन यजमानस्य मानसिकस्थितेः, इच्छाशक्तेः,सङ्कल्पशक्तेश्चअभिवृद्धिर्भवति। याभिः मनश्शक्तिभिः समृद्धः पुरुषः स्वकर्मणा सर्वान् स्वाभिष्टार्थान् समुश्नते। अथर्ववेदे उक्तं यत्--

मनसा सङ्कल्पयति तद्देवाँ अपि गच्छति।
ततोह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम्[२४] **॥**

मानवमनः अगाधेच्छानाम् आगारम्। तन्मनः त्रिविधस्तरेषु विभक्तम्, तद्यथा- चेतनमनः, अर्धचेतनमनः, अचेतनमनश्च। एतेषु अचेतनमनो भवति सर्वासां कामनानां वासनानाञ्च उत्सस्वरूपम्। सामाजिकनियमैः तासां कामनानां वासनानां पूर्तिर्न भवति। परन्तु ता अतृप्ता इच्छाः पूर्णरूपेण निःशेषा न भवन्ति; तास्तु अतृप्तावस्थायामेव अचेतनमनसि तिष्ठन्ति। यदा ताः कामनाः तीव्रा भवन्ति तदा ताः

---

[२३] मा.सं. ३४.३

[२४] अथर्व. १२.४.३१

अतृप्तेच्छाः तृप्त्यर्थम् अचेतमनसः चेतनमनसि आगच्छन्ति। परन्तु पुनः समाजबोध-सामाजिकनियमैः अवदमिताः (Repression) भवन्ति, तदा घृणा (Compassion), लज्जा (Shame), भय (Fear), कुण्ठादि (Frustration) मनोविकारो मनसि जायते। अनेन एकस्मिन् पक्षे स्वाभिष्टेच्छानाम् आकाङ्क्षा अपरपक्षे समाजबोधः, एतयोः वैपरित्ययोः कारणात् नानाविधानां मानसिकरोगाणाम् उत्पत्तिर्भवति। मानसिकरोगस्य वर्णनम् अथर्ववेदस्य मन्त्रेऽस्मिन् प्राप्यते-

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव[२५] **॥**

एतेषां मानसिकरोगग्रस्तानां रोगीणां मनोविशेषज्ञाः अबाधभावानुवादेन मनोरोगीणां विविधलक्षणानां विश्लेषणेन उपबोधन-प्रविधिना परामर्शविज्ञानेन वा मानसोपचारायतान् कर्मणि प्रवर्तयति। वैदिककर्मकाण्डेऽपि मानसोपाचारस्य विधिः विहितोऽस्ति। एतेषां कामाग्निनाम् उपशमनोपाया यज्ञादिकर्मणि विहिताः। यथा मनुष्ये स्थितस्य कामाग्नेः उपशमनाय यज्ञकर्मणा सवितृ-इन्द्रादिदेवानां सकाशे प्रार्थयते-

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानङ्गिरसोहवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्[२६] **॥**

यज्ञकर्मणः पूर्णतया अनुष्ठानाय मनस्तत्त्वानां महत्वपूर्णं स्थानमस्ति। प्ररेणाशक्तिः मनसि एव तिष्ठति, शतपथब्राह्मणे उक्तम्- **मन एवाग्निः**[२७]**।** यथा अग्निः देवेषु पूज्यतमः, कृत्स्नो यज्ञःतेनैव सम्पाद्यते। तथैव तीव्रसंवेगयुक्तानां (High Emotions) मनुष्याणां मनसि अग्निः

---

[२५] अथर्व. ६.१८.३

[२६] अथर्व. ३.२१.८

[२७] श.ब्रा. १०.१.२.३

ओजोरूपेण तिष्ठति। तीव्रसंवेगेन एकाग्रेण च अन्तःस्थितस्य अग्नेः जागरणं भवति। तस्य सामर्थ्यनैव शास्त्रविहितकर्मणामनुष्ठानेन सर्वान् कामान् समश्नुते। तथैव उच्यते-

यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद् यज्ञस्य विद्वान् पुरुषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद् देवताता यजीयान् न हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्[२८] **॥**

वैदिककर्मकाण्डानाम् अनुष्ठानेन मनुष्याणां सर्वविधाभ्युदयस्य निःश्रेयसश्च सिद्धिर्भवति। यद्यपि 'यजेत स्वर्गकाम'इत्यादिभिर्विधिवाक्यैः यज्ञादिकर्मणां किम्भावाकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेन अन्वेति; परन्तु तेषु विधिवाक्येषु कर्मणि प्रवर्तनामूलक अभिप्रेरणयायाः सङ्केतः पुरुषं शास्त्रविहितेषु कर्मसु प्रवर्तयति।प्रागेव उक्तं यत् मनसः सामर्थ्येनैव कर्मनिष्ठाः कर्माणि कुर्वन्ति। यतो मनसि निधाय सङ्कल्पेन यदि किमपि कर्म क्रियते तस्य फलमपि तदनुकूलं भवतीति, उक्तञ्च गोपथब्राह्मणे- **स मनसाध्यायेद्यद्वा अहं किञ्चन मनसाध्यास्यामितथैव तद् भविष्यतितद्धस्म तथैव भवति**[२९] **।**

---

[२८] ऋग्वेदः १०.५३.१

[२९] गोपथब्राह्मणम् १.१.९

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com